योग सिद्धान्तो और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 30 मार्च, 1998 अंक 12

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) - 283 202

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

श्री गोविन्द सोनी

ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा

वार्षिक शुल्क 65/- रु०
एक प्रति 6/- रु०
द्विवार्षिक शुल्क 120/- रु०
आजीवन शुल्क 651/- रु०

इस अंक के लेख

☐ नद्य: सदृश महापुरुष: 1
☐ अमृत कण 2
☐ योगी को प्रातिभ श्रावण आदि का ज्ञान 3
–योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज
☐ योग साधना एवं सिद्धियाँ (सम्पादकीय) 7
☐ योगेश्वर श्रीकृष्ण की योग लीला 11
–ब्र० ओमप्रकाश
☐ नवनीत सेन की योग-दीक्षा 14
–राजीव कुमार
☐ पुरुषोत्तम राम ने महर्षि वशिष्ठ से योग शिक्षा प्राप्तकी 16
–डा० जयनारायन
☐ किमस्ति योग: 19
रचनाकार—द्वारका प्रसाद शर्मा
☐ मच्चिन्त: सर्वदुर्गाणि 24
–राजेन्द्र प्रसाद पाठक
☐ श्री अशोक कुमार को सद्गुरु प्राप्ति 27
–केशवदेव उपाध्याय
☐ अमृतानुभूति 32
–राजेश शर्मा
☐ तर्क 34
–राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)
☐ करना और होना 40
–के० ना० कुलश्रेष्ठ जनकजी

★

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 30 अंक 12 | जनवरी फरवरी 1998

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

नद्यः सदृश महापुरुषः

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे

ऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय

तथा विद्वान नामरुपाद् विमुक्तः

परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

अर्थात्

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना–अपना नाम रूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम–रूप से रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। सर्वतो भाव से उन्हीं में विलीन हो जाता है।

अमृत कण

श्रद्धा धर्मसुता देवी पावनी विश्व भाविनी
सावित्री प्रसवित्री च संसारार्णव तारिणी
श्रद्धया ध्यायते धर्मो विद्वद्भिश्चात्मवादिभिः
निष्किंचनास्तु मुनयः श्रद्धावन्तो दिवं गताः।

श्रद्धा देवी धर्म की पुत्री है, वे विश्व को पवित्र एवं अभ्युदयशील बनाने वाली है। इतना ही नहीं, वे सावित्री के समान पावन, जगत को उत्पन्न करने वाली तथा संसार सागर से उद्धार करने वाली है। आत्मवादी विद्वान श्रद्धा से ही धर्म का चिंतन करते हैं। जिनके पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं है, ऐसे आकिंचन मुनि श्रद्धालु होने के कारण ही दिव्य लोकों को प्राप्त हुये हैं।

शैल समं पापं विस्तीर्णं बहु योजनम्
भिद्यते ध्यान योगेन नान्यो भेत्ता कदाचन्।

यदि पापों का पहाड़ भी हो तो वह ध्यान योग से नष्ट किया जा सकता है। उसको नाश करने का दूसरा अन्य कोई सबल साधन नहीं है।

विशेष लेख

योगी को प्रातिभ श्रावण आदि का ज्ञान

योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अपने पूर्व लेखों में योगी को आत्म साक्षात्कार कैसे होता है? इस विषय को भली प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। योगी ज्यों–ज्यों अपने दृढ़तर अभ्यास के बल से विवेक ख्याति की ओर बढ़ता है त्यों–त्यों उसकी बुद्धि में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय हो जाया करता है। जब तक साधक के मन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय नहीं होता तब तक अन्य जितनी भी बुद्धियें हैं वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की तरह से अन्यान्य ज्ञानों को पैदा करती रहती हैं किन्तु सम्प्रज्ञात समाधि की चतुर्थ श्रेणी में जब योगी पहुँच जाता है तभी उसके मन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्राकट्य आरम्भ हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय हो जाने के बाद योगी अतीतानागत सभी प्रकार के ज्ञानों को अपनी बुद्धि में धारण करता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय हो जाने पर योगी किस प्रकार से सभी प्रकार का दृष्टा हो जाता है, योग दर्शन में समाधि पाद के ४७वें सूत्र के भाष्य में योगी किस प्रकार सभी कुछ देखता है इस बात को समझाने के लिए एक श्लोक कहा है जो इस प्रकार है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः, सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

अर्थात् योगी जिस समय बुद्धि के उच्चतम प्रसाद पर बैठ जाता है तब वह स्वयं अशोच्य हो जाता है अर्थात् मनुष्य मात्र की चिंता से परे उसकी स्थिति हो जाती है। जिस प्रकार पर्वत शिखर पर बैठा हुआ मनुष्य भूमि पर रहने वाले मनुष्य को भली प्रकार देख लेता है। इसी प्रकार से ऋतम्भरा प्राप्त योगी सभी पदार्थों का ज्ञाता हो जाता है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रुत और अनुमान के विषय से आगे की वस्तु है, क्योंकि यह यथार्थ ज्ञान को प्रकट करने वाली है और इसके उदय हो जाने पर अन्य सभी व्युत्थान संस्कार आराम रुक जाया करते हैं। उनको यह स्वभाव से ही रोक देती है इसलिए भगवान पतञ्जलि देव ने–

तज्जः संस्कारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धी।

अर्थात् इस बुद्धि के संस्कार अन्य संस्कारों को रोकने वाले हो जाते हैं। अतः मनुष्य जिस समय में परार्थ भावों को छोड़कर स्वार्थ संयम करता है तो वह आत्म साक्षात्कार की ओर बढ़ जाया करता है और प्रातिभ श्रावण, वेदना दर्श आदियों का ज्ञान बिना किसी प्रयास योगी के मन में अनायास ही प्रकाशित हो जाया करता है। देखिये पातञ्जल योग दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव स्वयं अपने मुखारविन्दु से क्या उपदेश करते हैं—

ततः प्रातिभ श्रावण वेदनाऽऽदर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥

जिस समय योगी परार्थ भावों को छोड़ करके स्वार्थ में संयम करता है उस समय उसके मन में सर्वप्रथम प्रातिभ ज्ञान का उदय होने लगता है। प्रातिभ ज्ञान को तारक ज्ञान बतलाया गया है और यह विवेक ज्ञान का पूर्ण रूप है। प्रातिभ ज्ञान की स्थिति को इस प्रकार समझ लेना चाहिये जैसे सूर्योदय से पूर्व उषा काल में धुंधले–धुंधले प्रकाश में मनुष्य सब कुछ देखने लगता है इसी प्रकार योगी निर्वाणोन्मुखी वृत्ति पैदा हो जाने के बाद ज्यों–ज्यों वह स्वार्थ संयम् के बल से आत्म साक्षात्कार की ओर को बढ़ता है त्यों–त्यों प्रातिभ ज्ञान स्पष्ट होने लगता है। ऊषा काल में जैसे पहले मन्द–मन्द प्रकाश उदित होकर वह स्वाभाविक ही उत्तरोत्तर सूर्योदय के प्रचण्ड प्रकाश की ओर बढ़ता चला जाता है और सूर्योदय हो जाने के बाद वा अरुणोदय वाला प्रकाश भी नहीं रहता और सूर्योदय का शुभ प्रकाश हर वस्तु के स्वरूप को यथार्थता से प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार से प्रातिभ आदि ज्ञान आत्म साक्षात्कार के पूर्व काफी सत्यार्थ के प्रकाशक हो जाते हैं किन्तु आत्मसाक्षात्कार के हो जाने के बाद योगी जो देखता है सत्य देखता है। उसकी किसी भी चेष्टा में अन्यथात्व नहीं रहता। संसार में इस प्रकार के बहुत से जीव समय–समय पर प्रकट होते रहा करते हैं जिनके जन्म–जन्मान्तर के अभ्यास के फल स्वरूप स्वाभाविक ही प्रातिभ ज्ञान रहा करता है। वह किसी बात को स्पष्ट रूप से तो नहीं कह सकते कि क्या होना है और कैसा होना है किन्तु उनकी बुद्धि के अन्दर यह निश्चय रहा करता है कि अमुक बात इस प्रकार से होने वाली है ऐसी ही होगी क्योंकि मेरी बुद्धि में यह विचार दृढ़ हो रहे हैं। इस प्रकार के साधक भव प्रत्यय वाले साधक कहलाया करते हैं। योग दर्शन के समाधि पाद में यह बात भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने मुखारबिन्द से स्वयं स्पष्ट कर दी है–

भव प्रत्ययोविदेह प्रकृति लयानाम्।

अर्थात्–विदेहानां देवानां प्रकृतिलयानाञ्च योगिनाम भव प्रत्ययो भवति। जो योगी योग भ्रष्ट हो जाने पर स्वर्गादि लोक लोकान्तरों को चले जाया करते हैं और बाद में पुण्योपभोग के पश्चात् जब उनको पुनः मनुष्य लोक में जन्म लेना पड़ता है तो देव लोक में जो ज्ञान उनको दूर दर्शन दूर स्वर्ण आदि के स्वाभाविक प्राप्त थे वह यहाँ जन्म लेने के बाद भी उनके मनों में थोड़े–थोड़े प्रकट होते रहा करते हैं। इसी प्रकार से जो योगी अभी आत्म साक्षात्कार तक नहीं पहुँच पाये और उनके शरीर का अन्तकाल आ गया वे योगी प्रकृतिलीन योगी कहलायेंगे। यद्यपि यथार्थ रूप में वे स्वार्थ संयम करके पौरुषेय ज्ञान को प्राप्त नहीं हुए किन्तु फिर भी उन्होंने थोड़ा–थोड़ा निर्वाणोन्मुखी वृत्ति का आश्रय लिया ही था, इतने में ही देहावसान का संयम आ गया। ऐसी स्थिति में प्रकृति लीन होना ही उनके लिये स्वाभाविक हो गया। ऐसी स्थिति में प्रकृति लीन होने पर क्योंकि उनका चित्त साधिकार है और अपने उस साधिकार चित्त के द्वारा ही वे लोग **'कैवल्य पदमिवानु भवन्त'** की

स्थिति को प्राप्त हो गये है किन्तु चित्त के साधिकार रहने के कारण उनका जन्म होना भी अवश्यम्भावी है और जन्म लेने पर पूर्व ज्ञान का उदय भी अवश्यम्भावी है। इसलिए ऐसे लोगों को भी प्रातिभ ज्ञान का आभास रहा करता है। इस विषय को अखिलात्मा भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन का प्रश्नोत्तर देते हुए इस प्रकार से स्पष्ट कर दिया है—

पार्थ नैवेह नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याण कृत्कश्चिद्, दुर्गतिं तात गच्छति।

प्राप्य पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे, योग भ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव, कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके, जन्म यदीदृशम्।।

तत्र तं बुद्धि संयोग, लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूय: संसिद्धौ कुरुनन्दन।।

अर्जुन का प्रश्न था योग भ्रष्ट व्यक्ति की क्या गति होती है? उसका उत्तर देते हुए भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा कि हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का इस लोक व परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। वह अपने योगाभ्यास के पुण्य के प्रभाव से दिव्य स्वर्ग लोक को भोग कर पुन: इसी मनुष्य लोक में जन्म ले लेते है। उनका जन्म यहाँ पर पवित्र धनवानों के घर में अथवा योगियो के ही कुल मे हुआ करता है और इस प्रकार का जन्म भी इस मनुष्य लोक में अत्यन्त दुर्लभ है। यहाँ जन्म लेने के बाद उस को पौर्वदेहि बुद्धि संयोग फिर से प्राप्त हो आया करता है जिसके फलस्वरूप वे लोग पुन: अपने अभ्यास में लग जाया करते है। अत: जन्म जन्मांतर के अभ्यासी कितनी ही आत्माओं को प्रातिभ आदि ज्ञान भी स्वाभाविक रहा करते है। जो योगी अभ्यास करते—करते आत्म साक्षात्कार के नजदीक पहुँच गए है उनको यह प्रातिभ नाम का तारक ज्ञान तो स्वाभाविक होता ही है किन्तु उसके साथ—साथ श्रावण वेदनादियों के ज्ञान भी स्वाभाविक हो जाया करते है। यह याद रखना चाहिये कि प्रातिभ ज्ञान के अन्दर अतीत, अनागत की वस्तुएँ, सूक्ष्म से सूक्ष्म और छुपी हुई एवं दूर देश वाली वस्तुओं का भी ज्ञान हुआ करता है।

श्रावण ज्ञान

श्रावण—ज्ञान का अर्थ है दूर—दूर की बातें सुनाई देना, सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्दों को सुनना वहाँ तक जहाँ तक आकाश का सम्बन्ध है, वहाँ तक की कुल ध्वनियाँ आत्म साक्षात्कार के नजदीक वाला योगी स्वाभाविकत: ही सुन लेता है और उन शब्दों का अर्थ—ज्ञान भी उसको हो जाया करता है।

वेदना

वेदना का अर्थ है दिव्य स्पर्शों का ज्ञान। स्वायत्त चित्त होकर बैठे योगी को यदि कोई आकर के नमस्कार करता है या किसी भी प्रकार का सूक्ष्म स्पर्श उस योगी को होता है तो उसका अनायास ज्ञान योगी को हो जाता है। इसी प्रकार से आदर्श ज्ञान का अर्थ है— सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपों को देखना।

यह भी योगी को स्थिति में बिना प्रयास के हो जाया करता है। इसी प्रकार से दिव्य आस्वादों का अनुभव करना, दिव्य गन्धों का ग्रहण करना आदि–इत्यादि सब बातें आत्म साक्षात्कार के नजदीक पहुँचते हुए योगी को स्वभाव से होने लगती हैं। आजकल के साधू समाज में हर व्यक्ति जो थोड़ा सा भी भजन ध्यान करता है वह अपने वेश के बल पर बड़े अभिमान पूर्वक कह बैठता है कि अब मेरा तीन लोक में कोई भी कर्तव्य नहीं रहा है प्राप्त प्रापणीय जिस वस्तु की आवश्यकता थी वह मैंने प्राप्त कर ली है।

छिन्नः श्लिष्ट पर्वों भव संक्रमः।

पौर पौर पोरी जुड़ा हुआ संसार चक्र मैंने काट दिया है किन्तु यथार्थतः उपरोक्त स्थिति से वे लोग बहुत दूर होते हैं उपरोक्त सारी बातें आत्म साक्षात्कार के सन्निकट पहुँचने वाले योगी को हुआ करती हैं और जिन लोगों को पूर्ण रूपेण आत्म साक्षात्कार हो जाया करता है उनकी सर्व ज्ञातृत्व शक्ति पराकाष्ठा की हुआ करती है। अतः साधक को चाहिये कि यथार्थनुभूति के बिना अपने आपको कृतार्थ होने के भ्रम में न डाले एवं अपने आपको अनभ्यासी व अकर्मण्य न बना दे। जो लोग सब प्रकार से इन्द्रियों का दमन करके सफल प्रयास करते हैं। वह अवश्य ही निःश्रेयस सिद्धि अर्थात् स्वरूप साक्षात्कार को प्राप्त हो जाया करते है।

आत्म–विकास हेतु संकीर्ण स्वार्थपरता का त्याग आवश्यक है। मनुष्य क्षुद्र नहीं महान् होना चाहिए। उसके चिन्तन एवं प्रयास सार्वजनिक हित के लिए होने चाहिए। अन्तःकरण संवेदनशील होना चाहिए। वर्तमान हेय या सामान्य स्थिति को किस प्रकार श्रेष्ठजनों के अनुरूप अभिनन्दनीय, अनुकरणीय बनाया जाय। उसकी रूपरेखा बनाना और उसे कार्यान्वित करना ही आत्म परिष्कार का उद्देश्य है।

सम्पादकीय

योग साधना एवं सिद्धियाँ

जीव के लक्षणों में प्रथम लक्षण इच्छा है। इच्छा की पूर्ति के लिये वह निरन्तर प्रयत्नशील रहा करता है। ईश्वर जीव के प्रयत्न एवं भावना की पात्रता के अनुसार उन इच्छाओं की पूर्ति करते है। इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही भावानुसार ईश्वर ने अनेक लोग एवं शरीरों की व्यवस्था बनाई है। यह तो जीवों के लिये सामान्य व्यवस्था की बात है। इसमें समय अथवा काल तत्व का विशेष महत्व है। क्योंकि सृष्टि संचालन में काल की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सृष्टि की हर वस्तु इस काल तत्व के आधीन है। बौद्धेय स्तर के सभी जीव इस से आबद्ध है। जीवों की इच्छा पूर्ति में काल तत्व का महत्व है। मनुष्य की इच्छा की पूर्ति तत्क्षण क्यों नहीं हो पाती अथवा यूं कहिये कि मनुष्य अपने मन की इच्छानुसार अभीष्ट वस्तु को पाने में तत्क्षण सक्षम क्यों नहीं हो पाता ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर होगा कि मनुष्य की इच्छाओं में शक्ति नहीं है। ज्यों–ज्यों शक्ति का विकास होगा त्यों–त्यों इच्छा शक्ति के प्रभाव से अभीष्ठ ज्ञान अथवा वस्तु की प्राप्ति होती है। इस इच्छा शक्ति को पूर्ण विकसित करने के विज्ञान को ही योग कहते है। जितनी मन की एकाग्रता अथवा सूक्ष्मता प्राप्त कर ली जाती है यह शक्ति बढ़ती चली जाती है। योगी जिस प्रकार से अपनी इच्छानुसार सारे कार्यों को इच्छाशक्ति के बल पर तुरन्त कर लिया करता है दूसरे मनुष्य ऐसा नहीं कर पाते इसका कारण यह है कि हमारा मन कर्मजाल एवं संस्कार समूह से आबद्ध है कर्म की मजबूत गाँठ पड़ जाने पर मन की इच्छाओं को हम तुरन्त साकार नहीं कर पाते। अर्थात् हमारा मन कर्मरूपी डोर से बँधा हुआ होने के कारण हम इच्छा को तुरन्त पूर्ण कर नहीं पाते। मान लो हमारा कोई मित्र सुदूर देश में किसी संकट में है। हम उसकी किसी भी प्रकार से सहायता करना चाहते है। किन्तु वहाँ जाने का कोई साधन ही नहीं है ऐसी स्थिति में सामान्य मनुष्य अपने मन को मार कर बैठ जायेगा जब कि योगी उसकी हर प्रकार से तत्काल सहायता कर सकेगा। यह योगी की क्षमता पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार से सहायता करता है। शक्ति सम्पन्न योगी तुरन्त अपने मन के वेग से वहाँ पहुँच जायेगा। एवं सशरीर उपस्थित होकर उस पर कृपा करेगा एवं उसकी रक्षा कर सकेगा। अथवा निर्माण चित्त एवं निर्माण कार्य से प्रकट होकर कृपा करेगे। इस उदाहरण से यह बात तो स्पष्ट हो गई कि जीव में इच्छायें तो है किन्तु उन्हे हम करतलगत नहीं कर पाते जबकि ईश्वर या योगी चाहने मात्र से इच्छा मात्र से सब कुछ करने में समर्थ होते है। हर वस्तु इच्छामात्र से तत्काल प्राप्त कर लेते है समय का बंधन वहाँ नहीं है।

हमारे पुराणों और धर्मशास्त्रों में योगियों और ऋषि मुनियों के वर–शाप के चरित्र भरे पड़े हैं। यह कैसे फलीभूत होता है? योग विज्ञान में इसका भी एक वैज्ञानिक आधार है। सांख्य शास्त्र का एक आधारभूत सिद्धान्त है **नासतो विद्यते भावे नाभावो विद्यते सत:।** अर्थात् जो वस्तु है ही नहीं उसकी उत्पत्ति नहीं होती और जो अस्तित्व में है उसका अभाव अथवा नाश नहीं होता। यह बात भी सत्य है कि संसार में हर वस्तु प्रतिक्षण परिणमन अथवा परिवर्तन की ओर अग्रसर है। हम जिसे सामान्य अर्थों में नाश होना मानते हैं वह वस्तु का परिणामान्तर ही है सांख्य के अनुसार 'नाशो कारणलय:' किसी वस्तु का अपने कारण में लय होना ही नाश है। जैसे जल को यदि उष्णता मिल जाये तो वह वाष्प बनकर सूखकर समाप्त हो जाता है और उसका वाष्प बनकर बादल के रूप में बदल जाता है। इस प्रकार से जल नष्ट होकर अपने कारण बादल में मिल गया। यही स्थिति हर वस्तु के विषय में है।

ऋषियों के वर–शाप का प्रसंग चल रहा था। शाप के उदाहरण के रूप में एक प्रकरण राजा नहुष का आता है। वह इन्द्र पद पर आसीन हो गया और मदान्ध होकर उसने सप्तऋषियों को ही अपनी गाड़ी में बैलों की जगह पर जोत लिया। ऋषियों पर कोड़े बरसाने लगा। ऋषियों ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दे दिया कि तू अभी अजगर हो जा। वह अजगर बन गया। यह कैसे संभव होता है आइये इस पर योग सिद्धान्त के अनुसार विचार करें। इस संसार में धर्म एव अधर्म दो संसार चक्र के आपूरक घटक हैं। धर्म से पुण्य होता है जिसका परिणाम सुन्दर देह, सुख, यश, उन्नति, सद्बुद्धि तथा वैभव होता है अधर्म से पाप होता है जिससे दु:ख, निकृष्ट शरीर, दु:ख, अपयश कुमति एवं दरिद्रता आदि होते हैं। ये धर्म–अधर्म दोनों मनुष्य के चित्त में रहते हैं। योग दर्शन में आया है–'**चित्त नदी नाम उभयतो वाहिनी। वहति पापाय च वहति पुण्याय च**' अर्थात्–यह चित्त दो धाराओं में बहने वाली नदी की तरह है यह कल्याण के लिये भी बहती है और पाप के लिये भी। इस प्रकार से चित्त भी पाप–पुण्य के प्रवाह में निरन्तर बह रहा है। भौतिक बाह्य प्रकृति पर भी इसका प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। ऋषियों ने नहुष को अजगर बन जाने का शाप दे डाला। अब वह देव शरीर को छोड़कर अजगर का शरीर धारण कर लेगे। इस सम्बन्ध में योगदर्शन का सूत्र है '**जात्यन्तर परिणाम: प्रकृत्या पूरात**' अर्थात् प्रकृति के आपूरण से योगी एक शरीर को छोड़ दूसरे किसी भी शरीर को धारण कर लेता है योगी जब अपने शरीर के घटक को बदल लेता है तो वह दूसरे के शरीर के घटक को भी बदल सकता है।

क्यों कि शरीर के कारणभूत पंचमहाभूत एवं इन्द्रियों के कारणभूत अस्मितातत्व पर उसका अधिकार होता है। ऋषियों के शाप से नहुष के धर्म प्रवाह का क्रम कट गया तथा अधर्म का प्रवाह बह चला। ऋषियों के संकल्प से अधर्म के अनुरूप परमाणुओं के संगठन से तुरन्त अजगर के शरीर एवं

इन्द्रियादि अवयवों का संघातरूप अजगर का शरीर व्यक्त हो गया। योगी का परमाणु से लेकर महतत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों पर अधिकार होता है। पञ्च महाभूत और सूक्ष्म प्रकृति भी योगी के संकल्प के पीछे–पीछे वैसे ही चलते है, जैसे नव प्रसूता गौ बछड़े का अनुगमन करती है। ये धर्म अधर्म प्रकृति एवं परमाणुओं के नियोजक नहीं हुआ करते है क्योंकि धर्म–अधर्म स्वयं ही प्रकृति के ही कार्य है। ये धर्म और अधर्म का भण्डार प्रकृति मे विद्यमान रहता है। जिस प्रकार से खेत में पानी भरने के लिये किसान क्यारियाँ बना लिया करता है और एक क्यारी के पानी से भर जाने पर दूसरी क्यारी के मेड़ को तोड़ देता है तो पानी स्वत: ही दूसरी क्यारी मे चला जाता है। इसी प्रकार से धर्म–अधर्म की व्यवस्था है जीव के कर्मानुसार इन का परिवर्तन चक्र बदलता रहता है योगियों के शाप से संकल्प के कारण तुरन्त ही वह कार्य मूर्तरूप मे व्यक्त हो जाता है क्योंकि मन प्रकृति के सभी तत्त्वों में सूक्ष्मतम होने से सर्वाधिक शक्तिशाली यही सिद्धान्त वरदान मे भी लागू हो जाता है।

नन्दी साधारण मानव होते हुये भी भगवान शिव की कृपा से तत्काल देवत्व को प्राप्त हो गया यहाँ एक बात और यह भी है कि मनुष्य कोई पापाचरण आदि करता है तो ईश्वर के संविधान क्रम के अनुसार उस मनुष्य को अगले जन्म मे निम्न योनियो वाले शरीरो मे जाना पड़ता है लेकिन इस प्रक्रिया में काफी समय लगता है जबकि योगी अथवा सिद्ध के संकल्प से वर एवं शाप से परिणामान्तर होने में चुटकियों की ही देरी रहती है। इस प्रकार से एक बात तो निश्चित हो ही गई कि हमारे सुख व दु:ख के कारण धर्म–अधर्म ही है। यदि योग की भाषा में कहा जाये तो सतोगुण का फल सुख होता है गीता मे भगवान ने **'सत्वं सुखे संजयति'** कहकर इस की पुष्टि की है। सतोगुण की वृद्धि में छूटे हुये शरीर वाले ऊर्ध्व लोकों में जाते हैं। जहाँ सुखाधिक्य है मन्त्र जाप एवं ध्यान से शीघ्र ही सतोगुण की वृद्धि होती है और मन की शक्ति बढ़ जाती है। जिससे धर्मपक्ष प्रबल होता है और अभीष्ट कार्यों की सद्य: सिद्धि हो जाया करती है। इसके विपरीत **'रजसस्तु फलं दु:खम्'** रजोगुण का फल दु:ख होता है। रजोगुण की वृद्धि से रोग, संकट एवं अनेकानेक दु:ख बढ़ जाते हैं। इसलिये ही कहा जाता है कि साधक को सतोगुण का बर्द्धन करके दैवी सम्पत्ति का विकास करना चाहिये।

हमारे गुरु–भाई बहिनो के जीवन में भी जब दु:ख का दौर चलता था– जैसे घोर बीमारी, पदावनति, अपयश, कारावास तथा इसी प्रकार से अन्य कोई संकट उत्पन्न हो जाता था तो हम लोग तुरन्त श्री गुरुदेव जी के पास पत्र भेजकर अपने संकट से उबारने की प्रार्थना करते थे। गुरुदेव या तो अपने संकल्पित प्रसाद भेजकर संकट दूर कर दिया करते थे अथवा उपाय के रूप में पत्र लिखवाया करते थे लल्ला ! अपने गुरुमन्त्र का दृढ़ता से २ घण्टे जाप करो एवं नित्य १ घण्टा ध्यानाभ्यास करो इससे तुम्हारी सबबाधा हट जायेगी ! साधारणतया हर व्यक्ति को यह रहस्य समझ मे नहीं आता था किन्तु यह भी धर्म प्रवाह को द्रुततर गतिमान करने का उपाय होता था जिससे सामने आया

अधर्म चक्र समाप्त हो जाये और पुनः धर्म प्रवाह प्रवाहित रहे। इस प्रकार से मानव के जीवन में आने वाले हर संकट एवं प्रतिकूल परिस्थिति से निपटने के लिये व्यक्ति को धर्म एवं पुण्य का सम्पादन दृढ़ता से करना चाहिये। अस्तु!

सिद्ध योग की परम्परा में गुरुदेव अपने शिष्यों पर तीव्र शक्तिपात करके उसे समाधि अवस्था प्रदान कर देते है समाधिवान योगी मे स्वाभाविक ही वर–शाप की क्षमता रहती है उच्च स्थिति वाला योगी अपने से निम्न स्तर के योगी के वर–शाप को काटने मे समर्थ हुआ करता है। समाधि प्राप्त करा देने पर सिद्ध योगी शिष्यों को हिमालय में ही समाधिस्थ बैठा दिया करते हैं। ताकि जन–समूह से दूर रहे क्योंकि कभी–कभी योगी समाधि भंग होने पर व्यवहार दशा में भी आते है ऐसे मौके पर फिर लोगों से सम्पर्क होने पर वर–शाप का चक्र चल सकता है जिससे योगी के पतन का भय रहता है अतः इस पतन से बचाने के लिये ही गुरुदेव उन्हे जन समूह से दूर रखते हैं। सिद्ध गुरु चाहे तो अपने शिष्य के वर–शाप की शक्ति को अपने पास सुरक्षित रख सकते हैं ताकि साधक इसके दुरुपयोग से बच जाये। पूज्यपाद योगीराज स्वामी मुल्खराज जी महाराज भी वर–शाप दे दिया करते थे। एकबार श्री आनन्दकन्द प्रभु जी ने उनके इस सामर्थ्य को वापिस ले लिया। बाद में एक बार ऋषिकेश आश्रम में एक पुलिस का दरोगा आकर किसी कारण से बड़बड़ाने लगा। उस समय श्री मुल्खराज जी महाराज के मुख से निकल पड़ा। 'क्या करें, श्री प्रभु जी ने हमारी ताकत वापिस खींच ली है नहीं तो इस दरोगा को हम यहीं उल्टा कर देते'। अस्तु।

इस प्रकार से वर एवं शाप का झमेला भी साधक के मार्ग में बहुत बड़ा विघ्न है यदि मन पर नियन्त्रण नहीं है तो साधक वर–शाप के घेरे में आकर फिर पाप–पुण्य एवं जन्म मरण के चक्र मे पड़ जाता है। इसलिये साधक को गुरु चरणानुरागी बनकर अपनी साधना मे ही रत रहना चाहिये।

आत्मा जब कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर में बँध जाती है, अहंकार का पर्दा पड़ने से वह कैद में आ जाती है, तब उस आत्मा की संज्ञा जीव हो जाती है। जीव ईश्वर समान नहीं हो सकता। हाँ जीवन में कभी ऐसा समय आ सकता है जब करुणामय भगवान की दया से जीव का सम्बन्ध ईश्वर से जुड़ जाय।

योगेश्वर श्री कृष्ण की योग लीला

लेखक - ब्र. ओम प्रकाश (लखनऊ)

श्रीकृष्ण का समूचा जीवन एक लीला है, खेल है, अभिनय है— नाटक है। श्री राम के जीवन को हम चरित्र कहते हैं। राम बड़े गंभीर हैं उनका जीवन लीला नहीं है, चरित्र ही है। श्री कृष्ण का जीवन चरित्र नहीं है, वह है कृष्ण की लीला, खेल। श्रीराम मर्यादाओं में बंधे हुए पुरुष हैं, मर्यादाओं के बाहर वह एक कदम भी न बढ़ेंगे, कुल की रीति, नीति पर मर मिटने वाले।

"रघुकुल रीत सदा चलि आई
प्राण जाँय पर वचन न जाई"।

मर्यादा, कुल की रीति, नीत पर वे अपना सब कुछ कुर्बान कर देंगे। लेकिन श्री कृष्ण के जीवन में मर्यादा जैसी, रीति, नीत की कोई बात ही नहीं है। अमर्यादित, पूर्ण स्वतंत्र जिसकी कोई सीमा नहीं। सामाजिक कोई बन्धन नहीं। भला, बुरा, शुभ, अशुभ सभी कुछ करते हुए भी दोनों से परे अछूते। यह अमर्यादा श्री कृष्ण के आत्म—अनुभव का अंतिम फल है। तभी तो वह अर्जुन से कह रहे हैं कि, न कोई मारता है और न कोई मरता है, अगर अर्जुन तू मारना, मरना मानता है, तो तू आत्म वादी नहीं है शरीर वादी है, क्योंकि मरने, मारने की धारणा भौतिकवादी की धारणा है। मरना—मारना लीला है, नाटक है।

श्री कृष्ण जैसा अध्यात्मवादी भला कौन होगा जो युद्ध को भी खेल मानता है। चोरी भी लीला है, चीर हरण स्त्रियों का भी लीला है, खेल है, जिसके लिए अघासुर, बकासुर पूतना आदि यहाँ तक कंस मामा को भी मारना जिसके लिए लीला है खेल है। इससे अधिक नहीं। वस्तुतः श्री कृष्ण ने अपने कृत्यों से यह दर्शाया, जताया, बताया कि यह सृष्टि परमात्मा की लीला है, खेल है, एक नाटक है। इससे ज्यादा इस सृष्टि की कोई सत्यता नहीं है। इसे खेल से, लीला से यदि तुम ज्यादा, मत मान लेना और खेल खेला जाता है आनन्द के लिए। अपने—अपने भीतर छिपे हुए ढके हुए आनन्द को प्रकट करने के लिए। उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म ने आनन्द पाने के लिए सृष्टि का खेल रचा है और हम तुम इस परमात्मा की लीला को, खेल को सत्य मानकर दुःख सुख के, भ्रामक झमेले में उलझ गए हैं। हमने खेल में हार—जीत, के ऊपर दांव लगा रक्खे हैं जीवन में हम सब इसीलिए दुखी हैं। यह दुख की सृष्टि हमारी—तुम्हारी ही रची हुई है, हम सब अपने द्वारा बनाये गए संसार के कारण दुखी हो रहे हैं। श्री कृष्ण अपने आनन्द स्वरूप से, स्वभाव से कभी च्युत नहीं होते, अपने आत्म भाव में ही हर स्थिति में एक रस बने रहते हैं। दुःख में भी, मृत्यु में भी, हानि में भी, मान में भी, अभाव में भी। उससे बाहर आते ही नहीं होते ही नहीं सदा सर्वदा, अपने केन्द्र में, अपने आप में ही स्वरूप स्थिति में बने ही रहते हैं जो जीवन की सारी दिशाओं की राग की, प्रेम की, भोग की योग की, काम की, राम की, ध्यान की, ज्ञान की, समस्त दिशाओं को एक साथ स्वीकार कर लेता है। उस

समग्रता के दर्शन को हम समझने की कोशिश करें। श्री कृष्ण द्वैतवादी नहीं हैं अद्वैत वादी भी नहीं है। उनके विचार में सुख–दुःख, जीवन–मृत्यु, हानि–लाभ, शुभ–अशुभ, जय–पराजय, पाप–पुण्य यह जो द्वन्द्व है संसार का वह दो नहीं है बल्कि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक दो नहीं है।

मनुष्य के मन ने अस्तित्व को दो हिस्सों में तोड़कर एक हिस्से का चुनाव किया जैसे दुःख को छोड़कर सुख हमने चाहा है। सुख को तो हमने स्वीकार किया लेकिन दुःख को इन्कार किया। इससे द्वन्द्व हुआ, द्वैत हुआ। श्री कृष्ण दोनों को एक साथ स्वीकार करने के प्रतीक हैं। और जो दोनों को एक साथ अपने जीवन में स्वीकार करता है। वही पूर्ण पुरुष हो सकता है। नहीं तो अपूर्ण ही रह जायेगा। जैसे एक ही परब्रह्म शिव ने अपने को ही दो में पुरुष–स्त्री के रूप में बाँटा विभाजन किया इसी तरह पूरा अस्तित्व दो भागों में बँटा हुआ है। जैसे द्वन्द्व हैं, दो है उसी का नाम दुनियाँ है। आधा–आधा एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह दोनों मिलकर पूर्ण होते हैं एक–एक आधार है, स्त्री भी आधा है, पुरुष भी आधा है, शुभ भी आधा हिस्सा है अशुभ भी, सुख भी आधा हिस्सा, दुख भी जब ये दोनों मिल जाते हैं सम हो जाते हैं तो पूर्ण हो जाते हैं कहा भी है **"पूरे हैं वही लोग जो हर हाल में खुश हैं"**। अन्यथा सब अधूरे हैं।

जगत द्वन्द्व का सम्मिलित है और जगत दो विरोधी स्वरों का समवेत संगीत है। जीवन का बाजा भी विरोधी स्वरों से निर्मित हुआ है। आप अपने जीवन में ही झाँक कर भीतर देखें कि आपका जीवन भी दो विरोधी तत्वों का जोड़ है। मृत जड़, भौतिक शरीर और अमृत चेतन अभौतिक आत्मा। शरीर और आत्मा के स्वरों में कोई ताल मेल नहीं परस्पर विरोधी, गुण–स्वभाव वाले हैं। अतः श्री कृष्ण कहते हैं कि जिससे भी मंगल यात्रा गतिमान होती हो जिससे भी धर्म विकसित होता हो, जिससे भी जीवन में आनन्द की संभावना बढ़ती हो, चाहे उसके लिए युद्ध ही क्यों न करना पड़े हिंसा ही क्यों न करनी पड़े, वहीं शुभ है उसी का स्वागत है।

श्री कृष्ण को समझना हमारी बुद्धि के समझने की शक्ति के बाहर है। उन्हें हम कितना ही जानें लेकिन फिर भी वह जानने को शेष रह जाते हैं। श्री कृष्ण ही इस पृथ्वी पर एक मात्र ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने इस पृथ्वी के जीवन को पूरा स्वीकार किया है करीब–करीब बुद्ध–महावीर आदि पुरुषों ने संसार और जीवन को दुःखमय बताया है लेकिन श्री कृष्ण अकेले ही एक ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने जीवन को आनन्द से जीकर जगत को बताया जीवन आनन्दमय है। श्री कृष्ण संसार के समस्त द्वन्द्व को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं। इसीलिए वे पूर्ण हैं। श्री राम को पूर्ण अवतार नहीं माना जाता क्योंकि उन्होंने अपने जीवन में शुभ को ही चुना, धर्म, को ही चुना अशुभ को, अधर्म को छोड़ दिया। इसीलिए राम के व्यक्तित्व को हम "चरित्र" कहते हैं। अभिनेता का कोई चरित्र नहीं होता। अभिनेता की लीला होती है खेल होता है इसलिए श्री कृष्ण के जीवन चरित्र को हम लीला कहते हैं। चरित्र बड़ी गंभीर चीज है उसमें चुनाव करना पड़ता है वह करना है— यह नहीं करना अर्जुन महाभारत के युद्ध में चरित्रवान बनना चाहता था लेकिन श्री कृष्ण उसे लीलावान अभिनेता, योगी बनाना चाहते हैं। श्री कृष्ण को बुरा–भला दोनों स्वीकार हैं। वह चरम कोटि के भले भी हैं और चरम कोटि के बुरे भी हैं, और एक साथ। **श्री कृष्ण थे तो भले पुरुष लेकिन काम बुरे किये स्वयं व दूसरों से**

भी करवाये। अर्जुन से युद्ध कराया हिंसा कराई, स्त्रियों के वस्त्र चुराये, माखन, दही की चोरी की लेकिन इतने पर भी वे पूर्ण पुरुष पुरुषोत्तम भगवान थे। कृष्ण चुनाव रहित है, कृष्ण समग्र है और इसलिए ही वह पूर्ण पुरुष है।

श्री कृष्ण के लिए योग का एक ही अर्थ होता है, अखंड एक हो जाना। योग की दृष्टि अखंड ही हो सकती है। योग का मतलब है, समग्र का जोड़। इसलिए कृष्ण को महायोगी कहा जाता है। श्री कृष्ण पूर्ण पुरुष है इन्हें पूरा का पूरा समझ लेना, पूरा पचा लेने का साहस तो पूरे आदमी में ही हो सकता है। युद्ध से बचने के लिए अर्जुन की बुद्धि बार–बार जोर मारती रही कि आप ऐसा भी कहते हैं और आप वैसा भी कहते हैं। वह कृष्ण से कहता है कि आप में विरोधाभास है। आप दोनों बातें एक साथ कह रहे हैं। तो फिर मेरी समझ में नहीं आता। अर्जुन कहता है। मैं वक्तव्य में संगति चाहता हूं। मुझे भ्रम जाल में मत डालो। अर्जुन मानता ही नहीं, तो आखिर थक कर कृष्ण ने अर्जुन को अपना पूरा रूप ही दिखा दिया। अर्जुन श्री कृष्ण का पूर्ण रूप देखकर और भी घबरा गया। पूरेरूप का मतलब सारे विरोधाभासों के साथ इकट्ठे मौजूद। अर्जुन ने श्री कृष्ण के अन्दर सबकुछ देखा, जन्म भी और मरण भी– एक साथ। जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, पहाड़, वृक्ष, पशु, पक्षी, देवता, राक्षस, सृजन, प्रलय सबकुछ, अच्छा, बुरा, सब कुछ श्री कृष्ण के भीतर। अर्जुन बोला बस करो– मैं और न देख सकूंगा। श्री कृष्ण के विराट ब्रह्माण्ड को देखकर अर्जुन फिर कोई प्रश्न नहीं उठाता उसे दिखाई पड़ गया कि जिन्हें हम असंगतियां कहते हैं, विरोध कहते हैं वे एक ही सत्य के हिस्से हैं।

श्री कृष्ण सुख–दुख से परे की स्थिति में आनन्द में रहते हैं जहां न दुःख है न सुख है, जहां केवल आनन्द है। आनन्द सत्य है पूर्ण है, आनन्द से उलटा कोई शब्द नहीं है। सुख के उल्टा दुख है, प्रेम का उल्टा घृणा है, बन्धन का उल्टा मुक्ति है। लेकिन आनन्द से उलटी कोई अवस्था है ही नहीं। स्वर्ग के खिलाफ उल्टा नर्क है लेकिन मोक्ष के खिलाफ कुछ भी नहीं है। क्योंकि मोक्ष आनन्द की अवस्था है। श्री कृष्ण के लिए जो सार्थक है जीवन का शब्द, वह आनन्द है। आनन्द कन्द श्री कृष्ण चन्द्र। श्री कृष्ण ६४ कलाओं से युक्त पूर्णावतार है। श्री कृष्ण को पूर्ण कहने का अर्थ है कि वह बिलकुल शून्य है। वह अच्छे–बुरे, सुख–दुख, आदि समस्त जगत के द्वन्दों में वह शून्य है। जो व्यक्ति शून्य हो जाता है। वह पूर्ण हो जाता है। शून्यता पूर्ण की भूमिका है। शून्य का विभाजन नहीं। शून्य अखण्ड है। श्री कृष्ण की पूर्णता ऐसी नहीं जो समाप्त हो जाये कृष्ण समाप्त होने वाले नहीं। वह सदा शेष रह जायेंगे। और पूर्ण की जो व्याख्या है वह यही है पूर्ण से पूर्ण को भी निकाल लो तो भी पीछे पूर्ण ही शेष रह जाता है। श्री कृष्ण और उनकी गीता बस अर्थ में पूर्ण है कि हम उनमें से या उन की गीता में से कितना ही अर्थ निकाल लें, वह और उनकी गीता में फिर भी शेष रह जाते हैं।

श्रीकृष्ण एक ऐसे पूर्ण पुरुष हैं जो जन्म के क्षणों में तथा पूरे जीवन में भी रोए नहीं। रोना तो दूर रहा उदास भी नहीं देखे गये। जिनके मुख मंडल पर सदैव मन्द–मन्द मुस्कान रही यहां तक कि कुरुक्षेत्र के युद्ध स्थल में भी मुस्कराते देखे गये। श्री कृष्ण अकेले ही इस समग्र जीवन को पूरा ही स्वीकार कर लेते हैं इसीलिए अन्य सभी अवतारों को आंशिक अवतार कहा है और श्री कृष्ण को पूर्ण अवतार कहा है। श्री राम भी अंशावतार ही परमात्मा है और समस्त विश्व ब्रह्माण्ड उनकी लीला भूमि है।

नवनीत सेन की योग-दीक्षा

—राजीव कुमार (हिमाचल)

हमारे दादा गुरू परम–प्रभु श्री रामलाल जी महाराज सदैव ही अपने संस्कारी बच्चों की योग दीक्षा का प्रबन्ध किया करते हैं। नेपाल वासी श्री महा–प्रभु स्वयं योग–दीक्षा का मार्ग प्रशस्त करते है। इस सन्दर्भ में मैं अपनी योग–दीक्षा का विवरण प्रस्तुत कर सर्वप्रथम धृष्टता करना चाहता हूं।

सन् १९८१ के प्रारम्भ में किलष्ट संस्कारों के वशीभूत मैं काफी ऊधम मचाता था। स्व० गुरू भाई श्री बेसरराम जी "पानवाला" मंडी हिमाचल स्थित दुकान में श्री प्रभुजी ने सम्पर्क साधा। श्री बेसरराम जी की दृढ़ भावना थी कि मुझे योग–दीक्षा मिले। वह इस हेतु प्रयासरत रहे। मैं उनका भी मजाक उड़ाता था लेकिन उनके अटूट संकल्प और श्री प्रभु जी की अपार कृपा से श्री चंद्रमोहन जी महाराज द्वारा सद्गुरू देव भगवान ने नवम्बर सन् १९८१ में मुझे योग–दीक्षा दी।

तदुपरान्त कैसे–कैसे किलष्ट संस्कारों का भुगतान और मेरी स्व० बहन अरुना कुमारी को सहज गति प्रदान कराना यह प्रकरण सिद्ध योग में पूर्व प्रकाशित हो चुका है।

नवनीत सेन की योग–दीक्षा का विवरण इस प्रकार है:– जीवन तत्व साधना में जब बाल रूप का ध्यान करता तो एक दिव्य बालक नजर आता रहा। यह सन् १९९० की बात है। यह बालक उन दिनों पांचवीं कक्षा में पड्डल मंडी के 'दून वैली' स्कूल में पढ़ता था।

संस्कारवश जब यह बालक मेरी दुकान में कापी–पैन्सिल इत्यादि लेने आने लगा तो मैं इसे देखकर अत्यन्त विस्मित हो जाता था कि यही बालक मुझे बाल रूप के ध्यान में नजर आता है। सन् १९९१ में नवनीत सेन के पिताजी ने मुझे इस बच्चे की ट्यूशन का कार्यभार सौंपा ! दो साल तक यह बच्चा आठवीं तक ठीक–ठाक पढ़ता रहा ! मेरे मन में इस बच्चे को योग–दीक्षा प्रदान कराने का उदात्त भाव प्रकट हुआ लेकिन किलष्ट संस्कारों के चक्रों का भुगतान प्रारम्भ हुआ।

प्रखर मति नवनीत सेन जन्म–जन्मान्तरों के किलष्ट संस्कारों के वशीभूत कुसंगति में जीवन–यापन करने लगा। आठवीं कक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया। रात–रात घर से गायब रहने लगा। इसको समझाने–बुझाने के मेरे सभी प्रयास निरर्थक हो गये। उदण्डतावश व्यवहार से मैं काफी तंग आ चुका था।

नवनीत सेन के माँ–बाप भी इसकी गतिविधियों से हार मान चुके थे। तब अनायास ही प्रभुजी की अलौकिक कृपा हुई। जून–जुलाई १९९७ को ब्रह्मचारी श्री दासलाल जी महाराज मंडी योगाश्रम प्रवास पर आये। मैंने उनसे नवनीत सेन की सारी स्थिति पर निवेदन किया। नवनीत सेन के माता–पिता को मंडी योगाश्रम (मंडी)

मे श्री दास लाल जी महाराज के दर्शनार्थ ले गया।

७ जुलाई १९९७ को नवनीत सेन की योग–दीक्षा ब्र० श्री दासलाल जी से सम्पन्न हो गई। आजकल नवनीत सेन के क्लिष्ट संस्कारों के भुगतान का सिलसिला अनवरत कट रहा है तथा उसकी प्रारब्ध अथवा पूर्व के कुचक्र तेजी से कट रहे हैं। नवनीत सेन की योग–दीक्षा के उपरान्त भी काफी अन्तराय उपस्थित हुये। जब वह अपनी पुरानी वृत्तियों पर अडिग हो जाता तब मैं, अत्यन्त भयभीत होकर आ० ब्र० श्री दास लालजी महाराज से उसके घटना क्रमों की गुहार करता।

नवनीत सेन आजकल मंडी स्थित सर्वोदय विद्यालय में आठवीं कक्षा में अध्ययनरत है। मेरे पूज्य पिता श्री रूपचंद शास्त्री जी नवनीत सेन के बारे में कहते रहे हैं कि दिसम्बर १९९७ तक ग्रहानुसार इस बच्चे को मारकेश–दशा चक्र है अत: इससे सावधान रहो, नहीं तो तुम भी इसके कुचक्र की चपेट में आओगे। किन्तु परम–प्रभु की कृपा के आगे सभी ग्रह हार चुके तथा नवनीत सेन का मारकेश प्रभु जी काट चुके हैं।

आजकल मैं नवनीत सेन के बारे में निश्चिन्त हो गया हूं। मुझे श्री प्रभुजी ने नवनीत सेन की योग–दीक्षा का माध्यम बनाकर अपार कृपा बरसाई।

ब्र० श्री दासलाल जी का भी काफी अनुग्रह रहा जो उन्होंने परमप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की योगमयी गंगा के बहाल रखते हुये बालक नवनीत सेन को योग–दीक्षा का पात्र बनाया है।

उच्च स्तरीय आत्मायें अपने संबद्ध आत्मीय जनों को समय–समय पर अपनी सामर्थ्यानुसार लाभान्वित भी करती रहती हैं। वे अपना दिव्य सहयोग भी प्रदान करती हैं। महर्षि अरविन्द की सहयोगिनी श्री माँ का कहना है कि दिव्य लोक की दैवी सत्तायें मानव मात्र को प्रेरणा देने, मार्ग दर्शन करने एवं अपेक्षित अथवा अनपेक्षित सहायता प्रदान करने के लिए सदैव तत्पर रहती हैं।

"पुरुषोत्तम राम ने महर्षि वशिष्ठ से योग-शिक्षा प्राप्त की"

लेखक– डा.जयनरायन राय (लखनऊ)

सिद्धों, महर्षियों एवं स्वयं भगवान् ने चारों युगों में समय–समय पर अपने सिद्धवाणी द्वारा किसी के निमित्त प्राणीमात्र में योग के महत्व का संचार किया। यही कारण है कि श्री भगवान (श्री कृष्ण) का कथन है– 'मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा और वही पुरातन योग मैंने तुझको (अर्जुन) कहा है।'

महर्षि वशिष्ठ ने पन्द्रह वर्षीय श्री रामचन्द्र जी को जिस वैराग्यपूर्ण ज्ञान और विज्ञान का उपदेश दिया था, जिसके श्रवण से पूर्ण ब्रह्म निजस्वरूप का अनुभव सम्भव होता है। यह सम्पूर्ण उपदेश "योग वाशिष्ठ महारामायण" में संगृहीत है। इस महारामायण में लगभग ३२००० या ३३००० श्लोक हैं। यह वेदान्त शास्त्र का अनूठा ग्रन्थ है। जो वेदान्त शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं किन्तु मुख्य रूप से 'प्रस्थान त्रयी, योग वाशिष्ठ, एवं 'माण्डूक्य कारिका, है। मोक्षोपाय शास्त्र के प्रसंग में महर्षि वाशिष्ठ जी ने कहा है कि जो इस ग्रन्थ में है, वह अन्य ग्रन्थों में है और जो इसमें नहीं है वह दूसरे किसी ग्रन्थ में नहीं है। विद्वान लोग इसे समस्त ज्ञान शास्त्रों का कोष समझते हैं। इसी से इसके महत्व को निम्न श्लोक में प्रदर्शित किया गया है:–

"श्री राम सदृशः शिष्यो वशिष्ठ सदृशोगुरुः।
वशिष्ठ सदृशं शास्त्रं न भूतो न भविष्यति।।

'योग वाशिष्ठ महारामायण, वेदान्त मूलक है। वेदान्त का अन्तिम लक्ष्य अद्वैत है। वेदान्त में निदिध्यासन के माध्यम से समाधि प्राप्त करना होता है। वहीं योग का अन्तिम लक्ष्य कैवल्य है। अतः वेदान्त और योग में कोई मौलिक भेद नहीं है।

नेपाल राज्य की राजधानी काठमाडू के राज्य संग्रहालय में 'योग वाशिष्ठ महारामायण, का संक्षिप्त तत्व' योग वाशिष्ठ सार, नामक पुस्तक मिली है, जिसमें छः– प्रकरणों के अन्तर्गत लगभग २०० श्लोकों में योग के महत्वपूर्ण अंगों पर प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में उन्हीं सार तत्वों को प्रदर्शित करने का प्रयास **'सिद्ध–योग–पत्रिका,** के पाठकों के लिये किया जा रहा है।

वैराग्य एवं जगत के मिथ्यात्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संसार की असत्यता निःसन्दिग्ध रूप में जान लेने पर वैराग्य दृढ़ हो जाता है। वैराग्य के बिना आत्मज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आम ज्ञान के बिना मनुष्य जीवन सर्वथा निष्फल है।

वैराग्य दो प्रकार से होता है– एक तो दुख से और दूसरा पूर्वपुण्यों से विवेक उदित होने पर। यही समाधि रूप कल्पवृक्ष का बीज है। यदि ईश्वरानुग्रह से वैराग्य विवेक आदि साधन सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो

आत्मा का उद्धार हो जाता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

वेदान्त-शास्त्र का सिद्धान्त है कि मन ही इस जगत की उत्पत्ति और नाश का एकमात्र कारण है। मन के शान्त हो जाने पर संसारभ्रम नष्ट हो जाता है। और मन का उदय होने पर जगत का उदय होता है। महर्षि वशिष्ठ का कथन है:–

"संयमान्मनसः शान्तिमेति संसार सम्भ्रमः।
मन्देऽलस्पन्दता हाते यथा क्षीरमहार्णवः।।"

अर्थात्–मन का नियमन यानी मन का वेग या चंचलता के निरुद्ध होने पर संसारभय वैसे ही नष्ट हो जाता है। जैसे मन्दराचल के निश्चल होने पर क्षीरसमुद्र तरंग रहित और शान्त हो जाता है।

जिनके अन्तःकरण में आत्मबोध का प्रकाश उदित हो गया है, वे दूसरों के साथ व्यवहार करने के समय भी सर्वत्र ब्रह्मदर्शन ही करते रहते है। इसी को महर्षि वशिष्ठ जी निम्नश्लोक में प्रदर्शित करते है–

"चिदाकारमिदं सर्वं जगदित्यवभावयन्।
यस्तिष्ठत्पुशान्तात्मा स ब्रह्म कवचः सुखी।।"

अर्थात्–परिदृश्यमान समस्त जगत ब्रह्म स्वरूप है, ऐसा निश्चय करके जिनका मन शान्त हो गया है। वे मानो ब्रह्म को कवच रूप में परिधान करके निरन्तर पूर्णानन्द में निमग्न रहते हैं। जिन्हें आत्मबोध प्राप्त हो गया है, वे सम्पूर्ण विश्व एवं प्राणि–मात्र को ब्रह्मस्वरूप देखते हैं।

यदि साधक किसी विषय (वासना) का चिन्तन न करे, तो उसका अन्तःकरण अखण्डरूप में स्थित रहता है। अतः संकल्प त्यागना ही श्रेयस्कर है। यदि मायिक एवं अवस्तुभूत पदार्थों में यह इष्ट है और यह अनिष्ट है, ऐसी कल्पनाओं का त्याग किया जाय तो मन विक्षेप और विकल्प से शून्य हो जाता है। महर्षि वशिष्ठ जी का कथन है:–

"एष स्वभावाभिमतं स्वतः संकल्पभावति।
चेतना–स्वमम्लाना सैवेह मन आत्मनः।।"

जब यह संसार–परम्परा संकल्प से ही सिद्ध है, तब संकल्प द्वारा ही वह नष्ट भी हो जाती है। विषयों के दृढ़ चिन्तन से उत्पन्न यह संसार ब्रह्म के दृढ़ चिन्तन से नष्ट हो जाता है। विषय चिन्तन का परित्याग करते ही अन्तःकरण अपने आप ब्रह्मभाव में (स्वप्रकाश आनन्द में) परिपूर्ण हो जाता है।

अन्तःकरण या तो विषयाकार में आकारित होता है। या अखण्ड ब्रह्मरूप में। अतः प्रयत्नपूर्वक विषयों के प्रति राग निवृत करना चाहिये। इससे अन्तःकरण स्वयं अचल स्थिर हो जाता है। यह साभास, अचल अन्तःकरण या साक्षात्कार वृत्ति ही स्वावरक अज्ञान का विनाश कर देती है।

मनोजय हो जाने पर संसार नहीं भासता है। सर्वत्र सजातीय–विजातीय और स्वगत भेदों से रहित अविनाशी पूर्ण ब्रह्म ही भासित होता है। क्योंकि असत्य संसार को सत्य समझना मिथ्याज्ञान है। ऐसा असम्यक् दर्शन ही 'मन, कहा जाता है। दृढ़ अनात्म–वासना या आत्मा–अनात्मा की ग्रन्थि ही असम्यक् ज्ञान का हेतु है। इसी का नाम 'मन, है। मन न तो जड़ है, न चेतन ही, वह जड़–चेतन ही, वह जड़–चेतन की मिश्रित अवस्था

है। समष्टि–व्यष्टि राजस सात्विक विभाग मन के अवान्तर भेद माना है इसलिये समष्टि–कल्पना, व्यष्टि कल्पना, समष्टि–व्यष्टि प्रमातृभाव, सबकुछ मन के अन्तर्भूत है। जैसा महर्षिवशिष्ठ जी का कथन है:–

''असम्यग्दर्शनं यत् स्यादनात्मन्यात्मभावनम्।
यदवस्तुनि वस्तुत्वं तन्मनो विद्धि राघव''॥

आत्मज्ञान की प्राप्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप साधनों के अवलम्बन से होती है। आत्मस्वरूप का विचार उत्पन्न होने पर मन की चंचलता सहज ही नष्ट हो जाती है मोक्ष पदज्ञान(अप्रतिबद्ध ज्ञान) मनोनिग्रह तथा वासनात्याग के निरन्तर अभ्यास से सहज प्राप्त होता है। विषयाकार वृत्तियों का निरोध और उनकी मूलभूत अनात्मवासना का शिथिलीकरण इस तरह दोनों ओर से आक्रमण करने पर मन समूल विनष्ट होकर प्रत्यगात्मा सम्यक् प्रकाशित हो जाता है।

सत्संग तथा शास्त्र श्रवण से प्रमाण सम्भावना के नष्ट होने पर भी ''ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है,, इस सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास होने पर भी आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त नहीं होता है। इस सन्देह को दूर करने के लिये आत्म स्वरूप का मनन अत्यन्त आवश्यक है। अन्तः करण में यह दृढ़ धारणा करने का अभ्यास करना चाहिये कि ''मैं अन्य लोगों के शरीरों को जैसे अनेक कार्य करते हुये देखता हूँ, वैसे ही पूर्व–संस्कार के कारण क्रियाशील यह मेरा शरीर भी मुझसे भिन्न है। मैं केवल साक्षी हूँ, किसी कर्म का कर्ता या उसके फल का भोक्ता नहीं हूँ'' इस प्रकार की भावना को हृदय में स्थिर करने का नाम ही (मनन) है। निरन्तर आत्ममनन करते–करते आत्मबोध दृढ़ हो जाता है। और आत्मा का यथार्थ अनुभव होता है।

निदिध्यासन से प्रपंच का निरसन होता है अनात्मोपाधियों का पूर्णरूप से क्षय होता है। और केवल ब्रह्म अवशिष्ट रहता है ध्यातव्य विषय का अभाव होने पर प्रकाश स्वरूप आत्मा का जो स्वतः अनुभव होता है, उसी का नाम '**निदिध्यासन**, है। किसी भी विषय की इच्छा मन में बिना उदित हुये उसका चिन्तन नहीं हो सकता। विषयचिन्तन न होने पर संकल्प (वृत्तिरूप स्फुरण) का अभाव सिद्ध होता है। त्रिपुटी का अभाव होने पर शुद्ध साक्षी स्वयं (ब्रह्म) सम्यक् प्रकाशित हो जाता है।

धन (वित्त), स्त्री (कलत्र) एवं जमीन (क्षेत्र) विषय अनन्त दोषों से युक्त है। भ्रम में ये सुख साधन रूप में प्रतीत होते है। विवेक एवं विचार की सहायता से देखने पर बन्धन रूप में वे सभी दुखों के कारण सिद्ध होते हैं। वासना या चिन्तन ही इसके स्फुरण का एक मात्र कारण है। निर्वासनिक चित्त में चिन्तन संभव नहीं है। पुनः पुनः चिन्तन से ही वासना उत्पन्न होती है। विषय–चिन्तन न करने से विषय वासना क्षीण होती है। और हृदय में शुद्ध आत्मस्वरूप पूरी तरह से प्रस्फुटित होता है। इन्हीं तथ्यों को लक्षित कर महर्षि वशिष्ठ जी श्री राम से कहते हैं:–

''**बहिः कृत्रिम संरम्भोहृदि संरम्भवर्जितः।**
कर्त्ता बहिरकर्त्ताऽन्तर्लोके विहर राघव''।

अर्थात् हे राम ! इस प्रकार तुम सांसारिक व्यापार या कार्य निष्पन्न करो। किसी प्रकार बहिर्दृष्टि से तुम उद्यत हो, किन्तु मन में उत्साह या प्रवृत्ति में आसक्त मत हो अर्थात् उसमें सत्यबुद्धि मत करो, प्रवृत्ति के कर्ता मत बनो या उसके फलाफल से लिप्त मत हो। अतएव व्यवहार करके भी हृदय मे तुम अकर्त्ता एवं अभोक्ता हो।

किमस्ति योगः

रचनाकार : द्वारकाप्रसाद शर्मा (लखनऊ)

श्री सद्गुरुदेव की महती अनुकम्पा से इस बार हम सुधी पाठकों के समक्ष **'किमस्ति योगः'** शीर्षक के अन्तर्गत शृंखलाबद्ध रूप में **सिद्धयोग** पत्रिका में प्रकाशित हो रहे श्लोकानुबद्ध सूत्रों तथा उनके भाषानुवाद की नवीं शृंखला प्रस्तुत करने जा रहे हैं। इस प्रस्तुत शृंखला में हमने समाधिपाद में आये शेष समस्त सूत्रों का समावेश कर लिया है। समाधिपाद में सूत्रों की कुल संख्या ५१ है। अष्टम शृंखला तक पहुँचते हमने ३७ सूत्रों को श्लोकबद्ध करते भाषानुवाद सहित प्रस्तुत किया था। इस नवीं शृंखला में शेष रहे निम्नांकित १४ सूत्रों को ग्रहण किया है। ये सूत्र क्रमशः हैं—

३८—स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनम्।

३९—यथाभिमतध्यानाद्वा।

४०—परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।

४१—क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।

४२—तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

४३—स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।

४४—एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्म विषया व्याख्याता।

४५—सूक्ष्म विषयत्वं चालिंग पर्यवसानम्।

४६—ता एव सबीजः समाधिः।

४७— निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।

४८—ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

४९—श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्य विषया विशेषार्थत्वात्।

५०—तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।

५१—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

योगदर्शन में एक-एक सूत्र रत्न के समान उज्ज्वल होकर अपनी विचारपूर्ण कान्तियों को बिखेरता हुआ न जाने कितने समय से जन–जन को सत्पथालोकित कर रहा है। हमारे सद्गुरुदेव के प्रवचनों में आधारभूत सार या तो श्रीमद्भगवद गीता के वचनामृत रहते थे या फिर महर्षि पतंजलि प्रणीत योग सूत्रों के बिन्दु जिन्हें वे बड़े ही सरस एवं रोचक शैली में उदाहरण दे देकर बतलाया करते थे। योगशास्त्र वस्तुतः क्रियात्मक शास्त्र है। इसका एक–एक सूत्र सश्रद्धा समाचरणीय है। हमारे सद्गुरुदेव सकलरूप में योग की विग्रह युक्त मूर्तिमन्त सशरीर हमारे

मग्न रहे, यह हम सबका परम सौभाग्य रहा है। इस विषय को तो बारम्बार पठन से मनन से तथा निदिध्यासन से नव—नव अनुभूतियों की सृष्टि हुआ करती है क्योंकि यह आत्मपरक ज्ञान है, इसीलिये श्रुति ने भी इस वाक्य की आवृत्ति की है—आत्मा वारे ! श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च। अस्तु। इन्हीं विचारों की प्रेरणा रूप अब हम उपरिनिर्दिष्ट १४ सूत्रों के व्याख्यात्मक अंश निम्नांकित श्लोकों में पायेंगे जिनका भाषानुवाद प्रत्येक श्लोक के नीचे किया गया है।

(१) सूत्रेषु पूर्वेषु मानस निग्रहाय, ये च उपाया: परिवर्णिता वै।
अत: परञ्चापि हि सूत्रयोर्द्वयो:, महर्षिणा वर्णितौ द्वावुपायौ।।

इससे पूर्ववर्ती सूत्रों में भी जो—जो उपाय मनोनिग्रह हेतु वर्णित हैं ; अन्य दो सूत्रों में महर्षि पतंजलिजी मानस निग्रहार्थ दो और उपाय बता रहे हैं।

(२) स्वप्नेऽपि दृश्या: समुद्भवन्ति, मनस्तोषतां ये परिभावयन्ति।
यथा हि स्वप्ने गुरूदेव दर्शनं, मन: स्थैर्यमापादयितुं समर्थम्।।

स्वप्न में दिखाई देने वाले दृश्य भी कभी मानसिक तुष्टि के कारण होकर मन के निग्रह में सहायक सिद्ध हुआ करते हैं। हम अपने आराध्य सद्गुरूदेव के चिन्तन, मनन व ध्यान में लीन रहते हैं सो स्वप्न में अकस्मात् कदाचित् श्री गुरूदेव सविग्रह प्रकट हो जायें तो ऐसी आपात स्थिति में ऐसे कल्याणकारी स्वप्न अपना चामत्कारिक सुप्रभाव छोड़ते ही छोड़ते हैं।

(३) स्वप्ने यथाऽन्येऽपि हि दृश्यजाता:, योगी च राजा नर: स्यात्कदाचित्।
तज्जन्यमानन्दमवाप्य साधक:, समाप्नुयात् मानस निग्रहं निजम्।।

इसके अतिरिक्त भी स्वप्न में कोई व्यक्ति अपने आपको राजा या योगी बना देख लेता है। ऐसे में कभी उस आनन्द से अभिभूत होकर मन की स्थिति नियन्त्रण में हो जाया करती है। ऐसा सब साधक के निरन्तर अभ्यास तथा वैराग्य पर ही अवलम्बित हुआ करता है।

(४) निरन्तराभ्यास वशान्मन: स्थिति: आन्तर्मुखीना भविता सुनिश्चिता।
सैव स्थिति: स्वाप समयेऽपि भूयात्, तन्मूलकारणमिह मानसमन्थनाय।।

निरन्तर अभ्यास के कारण मन की स्थिति अन्तर्मुखी हो ही जाया करती है। निद्राकाल में भी ऐसे साधक उसी स्थिति में रहा करते हैं। मानस के मन्थन का मूल कारण तो फिर भी साधक का निरन्तराभ्यास ही रहा और परिणामस्वरूप उसकी बहिर्मुखी भाव की परिणति अन्तर्मुखीन होना।

(५) अत: परंचापि महर्षिणोदितं, सूत्रेऽपरे कारणमन्यमेव च।
यतो जनो भिन्नरूचिर्हि तस्मात्, यस्मै यथा रोचते तद्धि कारणम्।।

अग्रिम सूत्र 'यथाभिमतध्यानाद वा' का प्रणयन इस बात का संकेत है कि कोई अपने ही इष्ट स्वरूप के चिन्तन में तन्मयता प्राप्त कर लेता है जिससे मनो निग्रह हो जाया करता है। अपनी–अपनी रूचि के अनुसार भी किसी विग्रह विशेष में मन को लगा देने से मानस–निग्रह हो जाता है। भिन्नरूचिर्हि लोकः यह लोकोक्ति सर्वविदित है।

(६) निजेष्टदेवेऽपि मनः स्थिरं चेत्, यस्मिंश्च कस्मिन्नपि विग्रहे च।
शुभं तदेवास्ति मनः स्थिरार्थं, यथारूचिस्तत्करणीयमेव।।

अपने इष्टदेव में भी यदि मन की स्थिरता हो जाय, या किसी भी अन्य इष्ट विग्रह में हो जाय; वही शुभकारी होता है मन की निग्रहार्थ और यथारूचि उसे किया जाना अभीष्ट है।

(७) एवं यदा स्यान्मनसस्तु स्थैर्यं, वशित्वमायाति मनस्तु तावत्।
परमाणुतः परममहत् यन्मध्यवर्ती, तत्सर्वमध्ये मनसो गतिः स्यात्।।

अब ऐसा करके, उपरिनिर्दिष्ट उपायों के अन्तर्गत मनोनिग्रह की स्थिति हो जाया करती है तो ऐसी स्थिति में साधक परमाणु से लेकर महत्तत्त्व तक के अन्तर्गत प्रकृति के किसी भी तत्त्व पर मन की स्थिरता स्थापित कर लेता है।

(८) यदा वृत्तयः संक्षयतां प्रयान्ति, मनश्चन्द्रकान्तामणिवद् विभाति।
यथा मणिः कस्यचिद्रूपवत्वे, संग्राह्यतामेति मनस्तोदृशं स्यात्।।

जब चित्त वृत्तियां दासोन्मुखी हो जाती है और सत्त्ववृत्तिता का स्वाभाविक रूप से उन्मेष हुआ करता है तो मन की स्थिति स्फटिक मणि के सदृश हो जाया करती है। उस वक्त जो भी किया जाय या कहा जाय, मन उसी के अनुरूप आचरणशील रहता है जैसे स्फटिक मणि के सामने जिस किसी भी वर्ण की आकृति सम्मुख आ जाय वही उसमें परिलक्षित व भासती है। वैसी ही मन की स्थिति हो जाती है।

(९) आत्मा ग्रहीता, ग्रहणं च अन्तःकरणं तथा तु सकलेन्द्रियाणि।
ग्राह्यं भवेत् पंचभूतानि तद्वत्, तेषान्तु विषयाः मनसः क्रियार्थे।

ऐसी स्थिति की समाप्ति पर आत्मा ग्रहीता के रूप में हुआ करती है। ग्रहण होता है अन्तःकरण तथा समस्त इन्द्रियों से, ग्राह्य होते है पंचभूत और उनके विषय, पर मन उनमें तदाकार हो जाया करता है। मन को तो जहां मोड़ लो पर इसको तोड़कर मोड़ना होता है। जल्दी किये मनीराम मान जाय तो हम सब एकाएक मनीराम न हो जांय।

(१०) यस्मिंस्तु कस्मिन्नपि चेत्तु विषये, मनः पतति तन्तु भजेत्तदाकृतिः।
समापत्तिरेषा मनसस्तु यत्स्यात्, तदेव सज्ञान पुवा समाधिः।

ऐसी स्थिति में मन जिस किसी विषयवस्तु की ओर उन्मुख होता है उसी के अनुरूप वह हो जाया करता है। मन की ऐसी स्थिति या समापत्ति सज्ञान रहती है। अतः इसे सम्प्रज्ञात समाधि के नाम से अभिहित किया जाता है।

(११) सवितर्का निर्वितर्का, समापत्तेर्द्विधा स्थितिः।
शब्दमर्थं च ज्ञानं च, सवितर्का तु बिभ्रति॥

सवितर्क और निर्वितर्क नाम से ऐसी समापत्ति में द्विधा स्थिति हुआ करती है। सवितर्का—समापत्ति की स्थिति में किसी भी पदार्थ विशेष के शब्द, अर्थ और उस वस्तु के स्वरूप का बोध रहा करता है।

(१२) समाधौ निर्वितर्कायां, स्मृतिः शुद्धा प्रजायते।
स्मृतौ विशुद्धायां सत्यां, भाति ध्येय पदहि तत्॥

निर्वितर्क नाम की समाधि की स्थिति स्मृति शुद्ध हो जाया करती है और ऐसी विशुद्ध मनः स्थिति में मात्र ध्येय पद का ही बोध रहा करता है उसमें शब्द, अर्थ आदि शून्य हो जाते हैं।

(१३) स्थूलेषु तत्वेषु कृता समाधिः उक्ता च द्वैधास्ति महर्षिणा या।
सैवास्ति सूक्ष्मेषु विषयेषु तावत्, अलिङ्गतां यावदातनोति॥

महर्षि पतञ्जलि ने स्थूल तत्वों पर की गई समाधि की स्थिति को तो उक्त प्रकार से द्वैधा निरूपित किया है। परन्तु सूक्ष्म विषयों में इसका विस्तार अथवा पर्यवसान प्रकृति के महत्व तक हो जाता है। सूक्ष्मतत्व में शब्द स्पर्श रूप, रस गन्ध की तन्मात्राओं से अभिप्राय है।

(१४) समाधयो येऽपि हि वर्णितास्ते, सबीजनामाभिहितास्तुज्ञाताः।
तेषां यतो सकलभावतया न दग्धो, भवेत्तु चित्तस्य वृत्तेर्बीजः॥

अभी तक जिन समापत्ति स्थितियों का वर्णन किया गया है वे सब सबीज—समाधि नाम से ज्ञात समाधि के प्रकार हैं। क्योंकि उक्त प्रकार की समाधियों अर्थात् सम्प्रज्ञातावस्था की समाधि में सम्पूर्ण रूप से वृत्तिरूप बीज दग्ध अथवा नष्ट नहीं होता है। वासना का अंकुर किसी न किसी रूप में अंकुर रूप में रहा करता है।

(१५) सम्यक प्रकारेण समाहिता या, अभ्यासदार्ढ्येन पुष्टा समाधिः।
सा निर्विकारा परमा समाधिः, प्रसादयातनुते स्वात्मसंस्थम्॥

सम्यक् रीति से निर्विकार हो (संकल्प—विकल्प का जिसमें लेशमात्र मन में न रहे मात्र ध्येयालम्बन हो अभीष्ट—चिन्तन हो जाय) और अभ्यास की निरन्तरता से पोषित समाधि की स्थिति में परिणति हुआ करती आत्म—प्रसाद अथवा निरन्तर आनन्दमयी अक्षुण्ण प्रसाद—मुद्रा की।

(१६) ऋतं ऋतं या च बिभर्ति प्रज्ञा, योगी समाप्नोति स्थितिन्तु तस्याम्।
से केवलं पश्यति सत्यमेव, नैवनृतं स्यात्कथने न श्रवणे।।

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इस सूत्र के अनुसार पूर्ववर्ती श्लोक में वर्णित आत्मप्रसाद की जिस विलक्षण व अलौकिक स्थिति का उल्लेख हुआ है वह परिणामत: अन्ततोगत्वा सरबोर कर जाती है योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा देकर। इस प्रज्ञा को धारण करने पर योगी ऋतम् अर्थात सत्यम् की प्रज्ञा से शोभायमान हो उठते है। वह सत्य के अतिरिक्त अन्य अनृतादि को न कहते है और न ही सुनते है।

(१७) श्रुतौ च यद्यद गदितं सुभाषितं, यन्नीयते क्वापि तथा अनुमानत:।
अधिप्रशस्यं तु तयो द्वयोरिह, विशेषार्थद्रष्टा भवतीति योगिराट्।।

ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति पहुँचने पर तो योगी श्रुति सम्मत अथवा अनुमान पुष्ट बातों से भी ऊपर एक विशिष्ट सत्यार्थ का वेत्ता बन जाया करता है। उससे यथार्थत: तत्वरूप में कोई बात अज्ञात अथवा गूढ़ नहीं रहा करती। यही ऋतम्भरा प्रज्ञा की श्रेष्ठता है।

(१८) सुसंस्कृता निर्मला सा च प्रज्ञा, रोद्धुक्षमाऽन्यान्वान्नपि बीज रूपान्।
संस्कार शिष्टांश्च जनस्तु साधक:, यथार्थत: परिचिनोति भवस्वरूपम्।।

ऐसी सुसंस्कृत तथा निर्मल प्रज्ञा को धारण करता योगीजन अन्य अवशिष्ट संस्कारों को भी रोक देने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। क्योंकि ऋतम्भरा प्रज्ञा के माध्यम से वह यथार्थत: प्रकृति के स्वरूप का परिचय पा लेता है और कृतकृत्य हो जाया करता है।

(१९) क्षीणायिते सर्वसंस्कारकाणां, शेषायिते केवलमेव तत्वम्।
नि:संशयं साधक: सिद्धयोगी, चिदानन्दरूप: सदानन्दरूप:।।

समस्त संस्कारों के क्षीण हो जाने पर, केवल तत् त्वम् शेष रह जानेपर, मात्र ऐसा ही साधक, नि:सन्देह, सिद्धयोगी हुआ करता है जो चिदानन्द और सदानन्द रूप में ही प्रतिष्ठित रहता है।

(२०) अत: परं पुन: वक्ष्ये, श्री गुरूणां कृपावशात्।
यन्निगदितं न किंचिन्मे, नौमि श्री चरणाम्बुजम्।।

यह अब समाधिपाद का प्रथम अध्याय यहाँ समाप्त हो गया है। अब इसके पश्चात साधन–पाद आरम्भ होता है। आगामी अंकों के प्रकाशन में इसी विधि से 'किमस्ति योग:' शीर्षक के अन्तर्गत पुन: श्री गुरूदेव की कृपावशात् कुछ लिखूंगा। जो कुछ लिखा या कहा गया है इसमें मेरा कुछ नहीं, अत: मैं श्री सद्गुरूदेव की श्री चरणारविन्दों में शिरसा नमन करते हुए विराम करता हूं। जय गुरूदेव।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि

(मेरे में चित्तवाला होकर सम्पूर्ण विघ्नों को पार कर जायेगा)

पं. राजेन्द्र प्रसाद पाठक

संसार में आना सूक्ष्म दोषों का भी कारण है, सूक्ष्म दोष से अभिप्राय यह कि मनुष्य योनि में भी, यदि कुछ अपराध होता है तो वह यही कि वह संसार के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और लिप्तत: श्री भगवान से विमुख हो जाता है, अतः भगवान कहते हैं कि यदि श्री प्रभु–भक्त ने अपनी तरफ से सब कर्म मुझे समर्पित कर दिया तो वह स्वयं ही मुझमें समर्पित हो गया और यदि संसार की संयोग जन्य लोलुपता से सर्वथा विमुख हो गया तो उसने मुझमें अवश्य ही अटल सम्बन्ध पा लिया। परन्तु होता यह है कि वास्तविक तत्व प्राप्ति में, संसार के लोगों की तुलना आदि में, स्वयं में कुछ विशेषता पाकर देहाभिमान हो जाता है जो नहीं होना चाहिये और यही सूक्ष्म–दोष से वञ्चित होने के लिये श्री प्रभु को समर्पित हो जाना चाहिये। जिससे उन दोषों को तथा विघ्न–बाधाओं आदि को दूर करने की पूरी जिम्मेदारी श्री भगवान पर हो जाय।

सत्य बात तो यह है कि जीव साक्षात परमात्मा का ही अंश है ('ईश्वर अंश जीव अविनाशी)' तथा 'ममैवांशो जीव लोके।' 'श्रीरामायण एवं श्रीगीता'))।

अतः यदि वह केवल अपने अंशी परमात्मा की तरफ चलता है तो उस पर देव, ऋषि, प्राणी, माता–पिता, आप्त–जन आदि पितरों का भी कोई ऋण नहीं रहता क्योंकि विशुद्ध चेतन अंश ने कभी कुछ लिया ही नहीं बल्कि लेना–तभी बनता है जब जीव जड़ शरीर को ही सब कुछ समझते हुये उससे या उन वस्तुओं से अपना ममत्व सम्बन्ध जोड़ता है। श्री मद्भागवत महापुराण इसी बात की पुष्टि करता है कि– "राजन् (परीक्षित) जो सारे कार्यों को छोड़कर सम्पूर्ण रूप से शरणागत वत्सल भगवान की शरण में आ जाता है, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्बीजन और पितृगण– इनमें से किसी का भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।"

> देवर्षि भूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
> सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

(श्री मद्भागवत ११/५/४१)

प्रायः जीवन–निर्वाह की समस्या, शरीर में रोग आदि अनेक विघ्न बाधाओं के बावजूद भी भगवद्भक्त कभी अपने प्रगाढ़–भक्ति से विचलित नहीं होता है। बल्कि निर्विघ्नतः उसे हर कर्मों में भगवान की ही कृपा दीखती है। भक्त के साधन में तो इतनी शक्ति अवश्य है कि सम्पूर्ण विघ्न बाधायें स्वयं ही समाप्त हो जाती हैं महाभारत की कुन्ती जब भी भगवान का संस्मरण करती, भगवान श्रीकृष्ण स्वयं ही पधारते जबकि उसमें कौरवों के प्रति द्वेषात्मक बुद्धि थी। भगवान की कृपा में जो शक्ति है वह शक्ति किसी भी साधन में नहीं है बल्कि साधक में अवश्य है। अतः मनुष्य का जन्म केवल परमात्माप्राप्ति के स्वाभाविक धर्म से है। पुनः श्री मद्भागवत महापुराण इन बातों की ओर संकेत करता है कि–

'हे कमलनयन ! (भगवान श्रीकृष्ण) जो लोग आपके चरणों की शरण नहीं है और आपकी भक्ति से रहित होने के कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपने को मुक्त तो मानते हैं पर वास्तव में वे बद्ध ही है। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे–ऊँचे पद पर भी पहुँच जाय, तो भी वहाँ से नीचे गिर जाते हैं (जन्म मरण के चक्कर में पड़ जाते हैं।)''

''येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त मानिनस्त्वय्यस्त भावाद विशुद्ध बुद्धय:।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पद तत: पतन्त्य धोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय:।।''

(श्री मद्भागवत १०/२/३२)

एहि तनकर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुःखदाई।।

(मानस ७/४४/१)

वस्तुत: हमें इस शरीर को ही मरण धर्मा समझते हुये इसका सदुपयोग करें, यही मानव का विशिष्ट कर्तव्य है। परन्तु जब हम इसे अपना मानने की चेष्टा करेंगे तो अवश्य ही सुख एवं भोग्य पदार्थों में हमारी आसक्ति हठात् बढ़ जाती है। कारण कि इसमें स्थित पञ्चमहाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी) की सत्वगुण (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण) तथा रजोगुण (वाक, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा) एवं तमोगुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) अंश के एक दूसरे से क्रमश: घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसे तो मनुष्य योनि में आये हरेक को इस बात का ज्ञान है कि सुख लेने की इच्छा से जो–जो भोग भोगे गये हैं उनसे उन्हें सुख न प्राप्त होकर धैर्य–विनष्टता, व्यग्रता, पश्चाताप, चिन्ता, रोग, निर्बलता एवं अशान्ति तथा दुःख–शोक–उद्वेग–राग–द्वेषादि ही प्राप्ति हुये। परिणामत: इसे केवल विचारशील पुरुष ही जान सकते हैं।

अत: कहा गया कि–''हमने भोगों को नहीं भोगा, भोगों ने ही हमें भोग लिया, हमने तप नहीं किया, हम ही तप्त हो गये; काल व्यतीत नहीं हुआ बल्कि हम ही व्यतीत हो गये; तृष्णा जीर्ण नहीं हुई बल्कि हम ही जीर्ण हो गये।''

''भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता:,
तपो न तप्तं वयमेव तप्ता:।
कालो न यातो वयमेव याता:,
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:।।

शास्त्रों की बातें सत्य है या असत्य ? भगवान को कौन, किसने, कहाँ देखा है? संसार ही सत्य है इत्यादि संशय एवं भ्रम श्री प्रभु कृपा प्रसाद से ही मिटते है। संशय, भ्रम, विपर्यय (विपरीत भाव) तर्क–वितर्क तथा लौकिक और पारमार्थिक जितना भी ज्ञान है वह सब ज्ञान–स्वरूप परमात्मा का आभास–मात्र है। ज्ञान वही है जो स्वयं से जाना जाए और जानने योग्य एक मात्र परमात्मा ही है। जिन्हें जानने के बाद जीव के लिये कुछ भी जानना बाकी ही नहीं रहता। महाभारत के शान्ति पर्व में यह बात मिलती है कि – ''सांगोपाग वेद पढ़कर भी जो वेदों के द्वारा जानने योग्य परमात्मा को नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदों का बोझ ढोने वाला है।'' यथा

साङ्गोपाङ्गानपि यदि पञ्च वेदान धीयते।
वेद वेद्य न जानीते वेद भारवहो हि सः॥

(महाभारत, शान्ति० ३१८/५०)

इस प्रकार मनुष्य जब तक परमात्म प्राप्ति नहीं कर लेता, तब तक अपने को स्फुरणाओं से बचा नहीं सकता, अतः स्फुरणाओं से बचने के लिये विचार की शुद्धता अति आवश्यक है। विचार ही कर्म एवं प्रारब्ध का दाता है। सञ्चित में से जो कर्मफल देने के लिये हमारे सामने होते हैं उन्हें ही प्रारब्ध कर्म कहते हैं, कहा भी गया है कि– '**प्रकर्षेण आरब्धः इति प्रारब्धः** अर्थात अच्छी तरह से फल देने के लिये जिसका आरम्भ हो चुका है, उसे ही 'प्रारब्ध' कहते हैं परन्तु परिवर्तनशील परिस्थिति के साथ सम्बन्ध मानते हैं, वे अविवेकी पुरुष ही दुखी होते हैं किन्तु विवेकी पुरुष इसके साथ अपना सम्बन्ध न मानकर स्वतः साम्यावस्था वश कभी सुखी–दुखी होते ही नहीं और श्री प्रभु कृपा से सम्पूर्ण विघ्न–बाधाओं से तर जाते हैं जिसे गीता सिद्ध करती है कि– "मेरे में चित वाला होकर तू मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नों को तर जायेगा और यदि तू अहंकार के कारण मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो (जन्म–मरण के चक्कर में पड़ा रह) जायेगा।"

"मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।"

(श्री मद्भगवतगीता १८/५८)

पूर्व जन्मों के पाप–पुण्य (प्रारब्ध) का फल तो पशु–पक्षी, कीट–पतंग आदि सभी जीव भोगते ही हैं फिर मनुष्य और उन जीवों में अन्तर ही क्या हुआ। अतः मनुष्य जन्म की विलक्षणता यही है कि वह भगवान का आश्रय लेकर अपने ज्ञान–बुद्धि से अहंकार को त्याग कर कल्याण के मार्ग में लग जाय क्योंकि– "अनेक जन्मों के बाद इस परम पुरुषार्थ के साधन रूप मनुष्य शरीर को, जो अनित्य होने पर भी अत्यन्त दुर्लभ है, पाकर बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह शीघ्र से शीघ्र, मृत्यु आने से पहले ही अपने कल्याण के लिये प्रयत्न कर ले। विषय भोग तो सभी योनियों में प्राप्त हो सकते हैं, इस लिये उनके संग्रह में इस अमूल्य जीवन को नहीं खोना चाहिये।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मनुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

(श्रीमद्भागवत ११/९/२९)

इन बातों को श्री मद्भागवत में और भी मार्मिक रूप से विवेचन किया गया है– "यह मनुष्य शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है, और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार सागर से पार होने के लिये सुदृढ़ नौका है, जिसे गुरु रूप नाविक चलाता है और मैं (भगवान) वायुरूप होकर इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने में सहायता देता हूं। इतनी सुविधा होने पर भी जो मनुष्य इस संसार–सागर से पार नहीं होता, वह अपनी आत्मा का हनन करने वाला अर्थात पतन करने वाला है।" **नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान भवाब्धिं न तरेत् स आत्म हा॥**

(श्री मद्भगवत ११/२०/१७)

श्री अशोक कुमार को सद्गुरु प्राप्ति

केशव देव उपाध्याय, वाराणसी

श्री गुरुदेव के कृपापात्र शिष्य एवं हमारे आदरणीय गुरुभाई श्री अशोक कुमार गुप्त जी कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील के साढ़ग्राम के निवासी हैं। इनके पिता जी जिनका शरीर तीन चार वर्ष पूर्व पूरा हुआ, भी हमारे सर्व समर्थ गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त थे। इनके पिता श्री राधेश्याम गुप्ता जी, चन्द्रशेखर आजाद कृषि विश्व विद्यालय कानपुर में कार्यरत थे एवं उसी कृषि विश्व विद्यालय में हमारे भाई श्री अशोक जी भी कार्यरत हैं। प्रसंग उस समय का है जब कानपुर का योग प्रचार कार्यक्रम आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव भगवान के नेतृत्व में हमारे वरिष्ठ गुरुभाई आदरणीय श्री भगवत स्वरूप खजांची के यहाँ मनाया जाता था। अपनी आठ साल की अवस्था में इन्होंने स्वप्न में श्री प्रभु जी का दर्शन किया था। यद्यपि यह स्वप्न का दृश्य था परन्तु श्री अशोक जी के कथनानुसार श्री गुरुदेव भगवान की छवि का वह दृश्य आज भी उनके मानस पटल पर ज्यों का त्यों अंकित है। जब इनकी अवस्था तेरह–चौदह वर्ष की थी एवं ये विद्यार्थी थे, प्रातःकाल टहलकर वापस आ रहे थे तो प्रातः कालीन आरती की ध्वनि उन्हें सुनायी दी जो श्री गुरुदेव भगवान द्वारा खजांची साहब के यहाँ की जा रही थी। इनको आरती काफी आनन्द दायक लगी और ये उस पण्डाल में गये जहाँ आरती हो रही थी। आरती एवं भजन का प्रातःकालीन कार्यक्रम समाप्त होने पर उन्होंने इस तथ्य की जानकारी हासिल की, कि यह किसकी आरती हो रही थी, आरती करने वाले महाराज जी कौन हैं, यहाँ कितने दिन से प्रोग्राम चल रहा है एवं अभी कितने दिन चलेगा ? इसका प्रातः एवं सायंकालीन समय क्या है ? शेष सभी कार्यक्रमों का पूरा लाभ इन्होंने उठाया। कानपुर के अपने यौगिक प्रवचन के अन्तिम क्षणों में आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव भगवान जी ने आह्लादित मुद्रा में आदेश दिया कि हम अपने श्री प्रभु जी (हमारे–आप के दादा गुरुदेव) का जन्मोत्सव चैत्र नौमी को खूब धूमधाम से मनाने जा रहे हैं तुम सब के सब वहाँ आकर इस महान सतसंग का लाभ उठाओ। इससे तुम्हारी सांसारिक एवं आध्यात्मिक प्रगति अवश्य–अवश्य होगी। श्री प्रभु जी की इस अमोघ वाणी को ही गुरुशिक्षा मानकर ये श्री महाप्रभु जी के जन्मोत्सव में भाग लेने सवाई धाम पहुँच गये। तीन दिन तक रुककर इन्होंने इस आध्यात्मिक आनन्द का लाभ उठाया। उत्सव की भीड़ जब कुछ कम हुयी तो इन्होंने दीक्षा ग्रहण करने हेतु श्री चरणों में प्रार्थना की। श्री प्रभु जी की स्वीकृति मिल जाने के बाद सन् १९७८ ई० में इन्होंने सवाई धाम पर ही योग दीक्षा ग्रहण की। स्वप्न में दर्शन होने के बाद श्री खजांची साहब के यहाँ जब श्री अशोक जी ने श्री गुरुदेव भगवान को स्थूल रूप में प्रथमबार देखा तभी इन्हें स्वप्न की सारी बाते स्मरण हो गयीं एवं इन्हें ऐसा आभास होना आरम्भ हो गया कि सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता–धर्ता यही हैं

और ये अपने ही हैं।

दीक्षा प्राप्ति के बाद इन्होंने आराध्यदेव की आज्ञानुसार नियमित आरती पूजा एवं मंत्रजाप आरम्भ कर दिया। इनकी आध्यात्मिक प्रगति होती गयी एवं कुछ महीने पश्चात् इनकी ध्यानस्थिति काफी अच्छी हो गयी। ध्यान में इन्हें श्री गुरुदेव भगवान, अनादि सिद्ध महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज एवं अन्य देवी–देवताओं के दर्शन होने आरम्भ हो गये। कभी–कभी तो ध्यान में ही इन्होंने अपनी लौकिक एवं पारलौकिक शंकाओं का समाधान श्री सद्गुरुदेव भगवान से किया ! इस समय की एक घटना का वर्णन यहाँ समीचीन होगा। उस समय की दिनचर्या कुछ ऐसी थी कि शनिवार को सायंकाल ये कानपुर शहर से चलकर अपने देहात वाले गाँव साढ़ुर पहुँच जाते थे, रविवार को दिन भर वहीं रहते थे एवं प्रातः सोमवार को चलकर साढ़े ९ बजे तक कानपुर शहर आ जाते थे। अपने देहात वाले गाँव पर भी ये दोनों समय खूब विधि–विधान से आरती पूजन करते थे। इनके पड़ोस में ही एक ठाकुर साहब के बच्चे को जिसका नाम सम्भवतः जितेन्द्र था को करीब १० (दस) वर्षों से प्रेतबाधा थी। उसे ब्रह्म राक्षस ने पकड़ रखा था। अनेक उपचार एवं प्रयत्न करने के बाद भी उसकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। जब भी श्री अशोक जी गाँव जाते थे बच्चे के माता–पिता इनसे ये अनुरोध करते थे कि अपने गुरूजी से कृपा कराकर आप हमारे बच्चे को ठीक करा दीजिये। इन लोगों के बार–बार के अनुरोध के कारण इनके मन में दया आ गयी। अगले हफ्ते जब यह गाँव गये एवं रविवार को प्रातः काल आरती के बाद ध्यानस्त हुये तो इन्हें श्री सद्गुरुदेव के दर्शन होने लगे। इन्होंने तत्काल ही प्रार्थना की कि प्रभो ! हमारे पड़ोसी ठाकुर का लड़का कई वर्षों से प्रेत–बाधा से पीड़ित है, उसे स्वस्थ करने की कृपा की जाय। श्री गुरुदेव भगवान ने ध्यान में ही मधुर मुस्कान के साथ इनके गाँव से बाहर के क्षेत्र में पोखरी के पास एक पीपल का पेड़ दिखलाया एवं आदेश दिया कि लल्ला ! इसी पेड़ के पास जाओ एवं जमीन से (छः) छह बालिस्त की दूरी नापकर देखना। इस पेड़ की एक टहनी एक या डेढ़ इंच लम्बी है, उसे तोड़ने का प्रयास करोगे तो आसानी से ही हाथ से टूट जावेगी। इसको तोड़कर लाओ एवं प्रेतबाधा वाले बालक के किसी अंग में डोरा या रस्सी से बांध देना एवं उस बालक को बतादेना कि इक्कीस दिन तक इस पीपल के वृक्ष के नीचे दीपक जलाये। तुम्हें सोचने की आवश्यकता नहीं है, अब वह अवश्य ही ठीक हो जायेगा। इतना दृश्य देखकर श्री अशोक जी ध्यान से उठ गये एवं उस पेड़ के पास पहुंच गये जिसे श्री प्रभु जी ने ध्यान में दिखलाया था। उन्होंने जमीन से पेड़ की ऊंचाई छः बालिस्त नाप लिया एवं देखा तो एक सूखी टहनी थी, वे उसे तोड़ लिये एवं लाकर प्रेतबाधा वाले व्यक्ति के दाहिनी बांह में मोटे धागे से बंधवा दिया एवं बता दिया कि यह टूट कर अलग गिर न जाय, इसे अच्छी प्रकार हिफाजत से रखना। इस टहनी के उसके शरीर में बांधते ही प्रेत बाधा धीरे–धीरे कम होना आरम्भ हो गयी।

सोमवार को प्रातः काल जब ये आरती–पूजा–ध्यान से निवृत होकर दरवाजे पर आकर बैठे तो ब्रह्म पिचाश द्वारा पीड़ित वह व्यक्ति ने आकर इनको नमस्कार किया। श्री अशोक जी ने जब उसका हाल–चाल

पूछा, तो उसने उत्तर दिया कि भैया क्या बतलाऊं, लकड़ी बांधने के साथ ही आराम होना आरम्भ हो गया एवं आज प्रातः काल जब मैं उठा हूं तो मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि, हमें कुछ हुआ ही नहीं था। इस समय मैं पूर्ण रूपेण स्वस्थ एवं प्रसन्न हूं। अब इसके बाद मुझे क्या करना है, यह बतलाने की कृपा करें। श्री अशोक जी ने उसे बतलाया कि आज से इक्कीस दिन तक अमुक पेड़ के नीचे दीपक जलाना है। उतना बतलाकर वे कानपुर शहर के लिये चल दिये। इक्कीस दिन तक उस व्यक्ति ने पीपल के पेड़ के नीचे दीपक जलाया। यद्यपि वह बांधी हुई लकड़ी के प्रति बिल्कुल सतर्क था परन्तु बाइसवें दिन वह लकड़ी-मोटी रस्सी के साथ कहां गायब हो गयी, इसे वह नहीं जान सका। आज भी यह व्यक्ति पूर्ण रूपेण स्वस्थ एवं प्रेत बाधा से सर्वथा मुक्त है।

श्री प्रभु जी की करुणा कृपा से ओत-प्रोत दूसरी घटना जिसका सम्बन्ध इनके जीवन से है, इस प्रकार है। उस समय इनकी अवस्था सत्रह वर्ष ही थी एवं विद्यार्थी जीवन था। सवाई धाम से, योग साधन आश्रम ऋषिकेश का गंगा दशहरा पर्व मनाने जाने का निमंत्रण पत्र इन्हें मिला। पत्र मिलने के साथ ही गंगा दशहरा पर्व पर ऋषिकेश आश्रम जाने एवं श्री चरणों के दर्शनों की अभिलाषा इनकी बलवती होती गयी। उत्सव में मात्र चार-पांच दिन बचा था तो इनकी आतुरता अत्यधिक अधिक हो गयी। विद्यार्थी जीवन में पैसा आश्रम जाने के लिये कहां से मिलेगा, यह सोचते हुए सो गये एवं सोते समय प्रार्थना किये कि हे प्रभो ! अब आप ही श्री योग साधना आश्रम ऋषिकेश एवं दशहरा का उत्सव दिखलाने की कृपा करें। प्रातः काल करीब साढ़े पांच बजे इनके पिता जी आकर इनके चारपायी के सिरहाने बैठकर इनका सिर सहलाते हुये बोले, अरे बेटा ! काफी दिन निकल आया है, बिस्तर कब छोड़ोगे। उठकर जल्दी हाथ-मुंह धो लो। ये हाथ-मुंह धोकर आये तो इनके पिता जी ने उन्हें सौ-सौ के दो नोट देते हुये कहा कि बेटा। कई दिन से मैं तुम्हे उदास देख रहा हूं, कहीं जाकर घूम-टहल आओ। अपनी रिश्तेदारी, मित्र मण्डली या तीर्थ-स्थल जहां मन चाहे टहल आओ। श्री प्रभु की कृपाकोर को मन ही मन समझते हुए इन्होंने अपनी माता जी से कहा कि मुझे ऋषिकेश आश्रम जाना है, रास्ते का भोजन बनाकर बांध दीजिये। देहाती प्राइमरी स्कूल के बच्चों की पढ़ाई में प्रयोग होने वाले थैले में अपना भोजन एवं कुछ कपड़े रखकर, हरिद्वार की गाड़ी लखनऊ में पकड़ने हेतु ये कानपुर से लखनऊ की यात्रा पैसेन्जर ट्रेन से आरम्भ किये। गाड़ी में भीड़ बिल्कुल ही नहीं थी। ये ट्रेन पर सवार होकर एक केबिन में बैठे जिसमें इनके अलावा और कोई नहीं था। उन्होंने सोचा कि करीब दो घंटा समय लगेगा तब तक जूते निकाल कर आराम से लेट जाऊं। जूते निकालकर जब ये सीट के नीचे रखने लगे तो इन्होंने देखा कि सौ रूपये के तीन करेन्सी नोट सीट के नीचे पड़े हैं। इन्होंने उसे उठाकर अपनी जेब में डाल लिया एवं फिर प्रभु की कृपा का अनुभव किया। लखनऊ पहुंच कर इन्होंने हरिद्वार जाने वाली गाड़ी का पता किया एवं उस पर सवार होने के लिये पहुंच गये। प्लेटफार्म पर खड़ी हरिद्वार वाली ट्रेन के भीतर एवं बाहर यात्रियों की भीड़ का हुजुम देखकर, ये उदास से हो गये एवं सोचने लगे कि मैं नहीं जा पाऊंगा। बहुत प्रयत्न इन्होंने किया

परन्तु किसी डिब्बे में प्रवेश नहीं कर पाये। कंधे में थैला लटकाये एक डब्बे के गेट पर एक हाथ से हैन्डिल पकड़े ये पॉवदान पर खड़े हो गये एवं गाड़ी चलना आरम्भ करके धीरे–धीरे तेज गति पकड़ ली। हवा के तेज रफ्तार एवं शरीर के वजन के कारण इनके हाथ की पकड़ धीरे–धीरे कम होने लगी एवं लगा कि चन्द मिनटों में हाथ से हैन्डिल छूट जावेगा। उसी क्षण गाड़ी के यात्रियों ने आवाज लगायी कि बच्चे को गेट से भीतर कर लो, नहीं तो ट्रेन से नीचे गिर जावेगा। यात्रियों ने हमें डिब्बे के अन्दर कर गेट बन्द कर लिया। यद्यपि अब मैं डिब्बे के अन्दर खड़ा था परन्तु भीड़ इतनी अधिक थी कि शरीर का तनिक भी इधर–उधर हिलाना बड़ा ही कष्टदायक एवं दुष्कर था। डिब्बे के अन्दर खड़ा होकर यह ३०–३५ मिनट ही यात्रा किये होंगे कि डब्बे के अन्दर अचानक भारी शोरगुल एवं धक्का–मुक्की आरम्भ हो गयी। इसी परिस्थिति में इन्हें ऐसा लगा कि कोई आदमी पीछे से इनके कुर्ते की कालर पकड़ कर खींच रहा है एवं ये उससे उल्टी दिशा को खींचते हुए करीब डिब्बे के बीच में पहुंच गये एवं तब इनकी गर्दन वहीं छूटी। इन्होंने पीछे मुड़कर देखा तो वहाँ अपेक्षाकृत भीड़ कम थी एवं एक सीट पर एक बाबा वेषधारी पुरुष पैर फैलाये सो रहा था। उनके पैर की तरफ ये थोड़ी जगह में सिमट कर बैठ गये। करीब पन्द्रह मिनट बाद, वह बाबा उठकर अपनी सीट पर बैठ गया। अब कुछ आराम दायक परिस्थिति बनने पर इन्होंने अपने झोले में से माता जी द्वारा दिया गया भोजन निकाला एवं बाबाजी से प्रार्थना की। कि बाबाजी आप भी थोड़ा प्रसाद ग्रहण करने की कृपा करें। बाबा जी ने इनकी इस प्रार्थना के सम्बन्ध में कहा, बेटा ! हमें बिल्कुल ही भूख नहीं लगी है; तुम खूब प्रेम से खाओ। इनके भोजन करने तक बाबा जी अपनी सीट पर बैठे रहे एवं फिर यह कहकर अपने स्थान से उठे कि हमारी यह पूरी सीट अच्छी तरह से देखते रहना, हम अभी आये। उनके आने का इन्तजार श्री अशोक जी ने करीब एक घंटे तक किया परन्तु बाबा जी नहीं आये। इसके पश्चात् ये बाबा जी की सीट पर अच्छी तरह हाथ–पैर फैलाकर सो गये एवं इन्हें गहरी नींद आ गयी प्रातःकाल करीब पाँच बजे स्टेशन के प्लेट फार्म पर चाय एवं अन्य पदार्थ बेचने वालों की आवाज सुन कर जब इनकी नींद खुली तो इन्होंने पूछा कौन सा स्टेशन है तो इन्हें पता लगा कि ये हरिद्वार स्टेशन है एवं इस गाड़ी को छोड़कर इन्हें ऋषिकेश के लिये यहाँ से दूसरी ट्रेन पकड़नी पड़ेगी। तेजी–तेजी में श्री अशोक जी ने हरिद्वार स्टेशन पर उतर कर ऋषिकेश जाने वाली गाड़ी पकड़कर यात्रा आरम्भ की। एवं पूछते हुये श्री योग साधन आश्रम, रेलवे रोड ऋषिकेश के पावन धाम पहुंच गये। आश्रम में प्रवेश कर इन्होंने देखा कि दरबार के सामने आराम कुर्सी पर आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव जी महाराज विराजमान हैं। इन्होंने साष्टांग प्रणाम किया एवं फिर उनके सामने बैठ गये। श्री प्रभु जी, इन्हें इशारा कर अपने पास बुलाये एवं दोनों कन्धों पर अपना हाथ रखकर बोले ! ट्रेन में आराम से सोकर आये, तुम्हारी माँ ने खाना भी बहुत स्वादिष्ट बनाया था एवं तुम तो सोच रहे थे कि पैसा कहाँ से मिलेगा ? चलो आ गये, अच्छा किया। श्री गुरु चरणों में सत्संग का लाभ लेकर उत्सव समाप्ति के कुछ दिन बाद ये श्री प्रभु से आज्ञा लेकर अपने निवास स्थान कानपुर आ गये एवं प्रणाम करने अपने माताजी एवं पिता जी को

यह प्रसंग उसी प्यार से सुनाया जिससे इनके माता–पिता श्री प्रभु कृपा को स्मरण कर बार–बार आह्लादित होते रहे। इनके पिताश्री ने कहा कि बिल्कुल सही कहा है:–

''पिता से माता सौ गुना, करती सुत को प्यार।
'माता से हरि सौ गुना, हरि से गुरू सौ बार।।''

श्री प्रभु कृपा का एक और प्रसंग जो इनकी ध्यानस्थिति से सम्बन्धित है बड़ा ही शिक्षाप्रद एवं रोमांचक है। इनके पिता श्री राधेश्याम गुप्ता जी तीन–चार महीने से बीमार चल रहे थे। दवा तो ये योग्य एवं अनुभवी चिकित्सकों से करा रहे थे परन्तु रोग के ऊपर दवा का कोई प्रभाव नहीं था। रोग अपने आप कभी कम एवं कभी ज्यादा हो जाता था। अपने पिता जी की दवा कराते–कराते ये काफी परेशान थे। इस समय भी इनकी आरती एवं ध्यानाभ्यास का कार्य श्री प्रभु कृपा से नियमित चल रहा था। एक दिन प्रातः कालीन आरती के बाद जब ये ध्यानस्थ हुये तो इन्हे श्री गुरूदेव भगवान के दर्शन होने शुरू हो गये। इन्होंने ध्यान में श्री प्रभु जी से प्रार्थना किया कि प्रभो ! मैं अपने पिता जी का इलाज कराते–कराते परेशान हूं परन्तु तनिक भी लाभ नहीं हो रहा है। लल्ला ! अब कोई दवा उनको लाभ नहीं पहुंचा सकती, उनका अन्तिम समय करीब है। एवं कल इतना बजकर इतने मिनट पर तुम्हारे पिता इस संसार को छोड़कर श्री प्रभु जी के लोक को चले जावेंगे। ध्यान से उठने के बाद, अब नये निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार इन्होंने अपना सांसारिक कार्य किया। दूसरे दिन सभी लोग इस अंतिम यात्रा को समझकर अपने सभी नित्य–नैतिक–सांसारिक कार्य समय से पूर्ण कर सभी प्रकार से तैयार थे। श्री प्रभु जी की अमोघ वाणी के अनुसार ठीक समय पर इनका परलोक गमन हुआ। श्री प्रभुजी की भविष्यवाणी ने भाई अशोक जी की माया रूपी चादर थोड़े देर के लिये हटा दिया था, अतः उन्हें कोई सांसारिक कष्ट का अनुभव नहीं हुआ। पिता जी का शरीर छूटने के बाद इन्होंने खूब विधि–विधान से अंतिम दाह संस्कार एवं श्राद्ध कर्म किया। इस समय हमारे ये गुरुभाई पूर्णरूप से स्वस्थ एवं प्रसन्न रहकर सपत्नीक बाल गोपालों के साथ श्री प्रभु कृपाओं का अनुभव करते हुये सद्गृहस्थ जीवन यापन कर रहे है। सर्व समर्थ, आनन्दकन्द एवं अहैतुकी कृपा निकेतन योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के ऐसे ही विशेष कृपापात्र शिष्यों एवं हमारे आदरणीय गुरुभाइयों को लक्ष्य मानकर हमारे किसी साधनारत अनुभवी गुरूभाई ने ठीक ही गुन–गुनाया है–

गुरुदेव के प्यारे बच्चों को,
पग–पग पै सहारा मिलता है।
तुम इधर हटो तुम उधर बढ़ो,
यह आप इशारा मिलता है।।

अमृतानुभूति

राजेश शर्मा

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणं कहते हुये गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्री गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया। संत ज्ञानेश्वर ने तो श्री गुरु को सगुण ईश्वर ही नहीं बल्कि परब्रह्म के रूप में उनकी वंदना की है उनके गुरु विकारसहित होने पर भी सुख रूप है। श्री गुरु एक व्यक्ति नहीं बल्कि एक ऐसा समर्पण केन्द्र है जहाँ से हमारी अमृतानुभव की बोधधारा फूट पड़ती है। योग का आधार केवल सद्गुरु ही है। **गुरुबिन ऐसी कौन करै, भव सागर ते बूड़त राखे, भव सागर ते बूड़त राखे। दीपक हाथ धरे**—इन शब्दों में सूरदास जी ने भी इसी संकेत को दोहराया है कि अपने अहंकार विलय के लिये श्री गुरु चरणों का आश्रय लेना अति अनिवार्य है। ज्ञानेश्वर महाराज अपने सद्गुरु श्री स्तुति करते—करते इस प्रकार लीन होते थे कि उन्होंने अपने पवित्र प्रेम को श्रीगुरु के प्रति इतना समर्पित किया कि उनके अतिरिक्त किसी अन्य को स्थान ही नहीं दे पायें, आज का साधक जब अपनी लौकिक इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सकी जबकि उसके गुरु सर्व समर्थ है भव सागर से पार कराने वाले है सद्गुरु अपनी पैनी दृष्टी से देखते है कि शिष्य को लौकिक लाभ देने से परमार्थिक लाभ देना ही श्रेयस्कर है लेकिन शिष्य जब लौकिक इच्छा की पूर्ति न ही होने पर फिर इधर—उधर भटक जाता है। फिर वह देखता है कि अब उस स्थान पर असंख्य लोग जाते है हो सकता है मेरी मनोइच्छा वहीं पूर्ण हो जाये। वहीं जाने लगता है यह है आजकल के शिष्य की निष्ठा। संत ज्ञानेश्वर लिखते है कि जब शिष्य में अपने अलौकिक कृपासागर श्रीगुरु के प्रति अत्यन्त प्रेम भाव जाग्रत होता है कि अपने आप को संभाल भी नहीं पाता। उनके आलिंगन मात्र से ही शिष्य गुरु के पेट में पूर्णरूप से समा जाता है फिर आलिंगन देने वाले का नाम निशान मिट जाता है। 'वही स्थिति हो जाती है **'जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं'** कथन में कबीर ने इसी विलक्षण घटना को प्रस्तुत किया है। आज कभी—कभी हम सभी 'जो अपने प्यारे सद्गुरु के इस प्रकार आलिंगन में बंधे है उस क्षण को स्मरण करते है तो आँखो से अश्रुपात होने लगता है—ऐसा विलक्षण प्रेम की अनुभूति इस जीवन में कहीं अनुभव में भी नहीं आयी। लगता है अब ऐसा दिव्य स्पर्श उनका इस जन्म में दुर्लभ ही है। श्री गुरु की छत्रछाया में शिष्य को ऐसी अद्भुत योग्यता प्राप्त होती है कि ब्रह्मा से भी होड़ लेने लगता है अब उसको जिन लौकिक इच्छाओं की आवश्यकता थी उसको हेय दृष्टि से देखता है यह सब क्या है ? यही है सद्गुरुकृपा। आजकल समाज में जब साधक समाज को थोड़ा यश—मान या कोई ऐसी ऐषणा मिलती है, वह यही कहता है कि यह सब उनकी कृपा है। सद्गुरु तो अपने शिष्य को सर्वप्रथम आध्यात्मिक लाभ कराने का ही प्रयास करते है। उसने सद्शिष्य को भव सागर से पार करने का ही मानो बीड़ा उठा लिया है वे किसी न किसी उपाय से इसी प्रयास में रहते है कि मेरे शिष्य की अधोगति न हो जबकि शिष्य को साधना तो स्वयं करनी ही पड़ेगी वे तो केवल मार्ग दर्शक बनते है सद्गुरु योग अभ्यासी शिष्य को योगाभ्यास करने का आदेश देते है। ध्यानाभ्यास ही मानों लक्ष्य है। ध्यानाभ्यास ही जीवन का परम लक्ष्य है।

ध्यान करने में मंत्र हमारा सहयोगी है जो विचार शून्यता की स्थिति को जन्म देकर 'मन को स्थिर बना देता है। मन जब मंत्र में लीन हो जाता है तब उसके पार देखा जा सकता है, ध्यान की स्थिति में अधिक गहराई में बैठते ही मन और मंत्र दोनों छूट जाते है, जिसे समाधि की स्थिति कहते है। उस स्थिति में लीन रहने से आत्मदर्शन हो जाता है। मुक्तानंद इसे बोधगम्य बनाने के लिये कहा करते थे कि जैसे कहीं जाना

हो तो किसी वाहन का आश्रय लेना पड़ता है और गन्तव्य पर पहुँचे ही उस वाहन को छोड़कर हम अंदर प्रवेश करते हैं। ऐसा नहीं होता कि हम वाहन लेकर अंदर जाते हैं। मंत्र भी एक वाहन है जो हमें आत्मा तक ले जाता है। शास्त्रों में उल्लेख है कि आत्मा तो सतत् हममें निवास कर ही रही है किन्तु अज्ञानवश हमें उसकी अनुभूति नहीं हो पाती। जब शक्तिपात की हमें प्राप्ति हो जाती है अन्तर शक्ति जागृत होकर हमें आत्मज्ञान को उपलब्ध करा देती है। इसी साधन को लेकर हमें अन्तर्मुखी होना है कभी–कभी साधक का मन जब हर समय अपने गुरुमंत्र का जाप मन ही मन जपता है तब उसको किसी से बोलना, गपशप, निंदा आदि सुनना अच्छा नहीं लगता है। लगताहै कि यह सब व्यर्थ है।

अंतर्मुखी प्रवृत्ति आरम्भ होने लगती है। अंतर्मुखी होने की क्रिया में, बाह्य जगत छूट जाता है, मन विचारों से मुक्त हो जाता है, तथा गहरे पैठने पर आन्तरिक क्रियाऐं प्रारम्भ हो जाती है। जो हमारी बहत्तर हजार नाड़ियों की शुद्धि करने का कार्य प्रारंभ कर हमें विकार मुक्त करती है, कालान्तर में वह योगाग्नि हमें पूर्ण शुद्ध बना देती है। तब हमें परम तत्व के दर्शन होते है। मंत्र जपते–जपते गुरु का कृपाप्रसाद मिलते ही दिव्य शक्ति का जागरण प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु साधक सोचते हैं कि कुछ घंटों में जाप करने से ही यह सब हो जायेगा। सब कुछ एकदम नहीं हो जायेगा। सद्गुरुदेव कहा करते थे कि ३ घंटे जाप एक घंटा ध्यान सदा करते रहने से ही ऐसी स्थिति आयेगी जब प्रकाश का उदय होगा। इसके लिये गुरु में समर्पण भाव और श्रद्धा से साधनारत होना पड़ेगा, नियमित रूप से ध्यान कभी किया कभी नहीं, कभी २–४ दिन छोड़ दिया। फिर किया ऐसा नहीं। अंतर्मुखी बनने का अभ्यास करने के लिए अपने आसन पर बैठना होगा। मन को मंत्र में रमा कर समाधि की स्थिति में पहुँचने पर आंतरिक आनंद की उपलब्धि होगी। साधना की सफलता और अनुभूतियां हमारी प्रकृति, हमारी लगन, श्रद्धा पर निर्भर करती है, अपने पूर्व अभ्यास और पुण्य और सद्कर्मों की भी बड़ी भूमिका हुआ करती है।

आजकल सद्गुरु भक्ति करना अत्यन्त कठिन है और सरल भी है। एक साधक जब अपने आराध्य में इतना तल्लीन रहता है कि उसको अपने आराध्य की भक्ति का स्वयं अपने मुख से भी वर्णन करने में भी संकोच रहता है। वह अंदर ही अंदर उसका अमृतपान करता है। जैसे गूँगा गुड़ खा लेने पर भी उसका स्वाद का वर्णन नहीं करता है उसकी गुरुभक्ति तो उसके नयनों से, मुख से, उसके आचरण से झलकती है। यही उसका परिचय काफी रहता है, आज सभी में होड़ रहती है कि मैं ही अपने सद्गुरु का लाड़ला रहा जो भी वे कहते थे सब मेरे से ही कहते थे। सम्पूर्ण रहस्य मेरे को ही समझा कर गये। सब कुछ मुझे ही दे गये। इधर–उधर के दृष्टांत देकर अपने ही बंधुवर्ग को दोष प्रक्रिया बड़े सुंदर नाटकीय ढंग से कर अपने आपको सिद्ध कर देते हैं कि मैं ही तो उनका सबसे 'अतिप्रिय शिष्य रहा। लोगों पर अपना प्रभुत्व दिखाया। मान–सम्मान की इच्छा जागृत रहती है। योग मार्ग में यह सबसे बड़ी बाधा है। अमानित्व गुरुदेव स्वयं किसी कार्य का श्रेय अपने लिए न कहकर अपने बालकों पर ही रखते थे। जब तक योग की पहली सीढ़ी यम नियम का भी प्रयास नहीं होता। हम लोग यही कहकर कि सब कुछ वही करेंगे जो करवाते हैं। वही तो कर रहे हैं कहकर अपने आप को सन्तुष्ट कर लेते हैं। अन्य–अन्य बातें कहकर आपस में ही रागद्वेष प्रारम्भ कर देते हैं। सद्गुरु तत्व एक ऐसा व्यापक तत्व है, जो जन्म से मृत्यु, मृत्यु से परे भी प्राणीमात्र की भलाई में रहता है। जो सदा प्राणी के कल्याण की ही भावना रखता है। जब तक कि कैवल्य समाधि की प्राप्ति नहीं होती। अभी योग में प्रवेश हुआ ही नहीं, जो कोसों दूर है, अन्तःकरण शुद्ध भी नहीं हुआ है, गुरुदेव का हम सबको यही मुख्य आदेश है जप करना–ध्यान करना चाहे वह आश्रम वासी हो या गृहस्थधर्म का पालन कर्ता हो, यह सभी के लिये है शेष बातें तो गौण है।

तर्क

राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)

प्रश्नवाचक शब्द 'क्यों ?'' तर्क का ही एक पर्याय है। प्रश्नकर्ता के किसी प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक प्राप्त न होने पर 'तर्क' उसके बाद की स्थिति है जो प्रश्नकर्ता की नकारात्मक अभिव्यक्ति को प्रदर्शित करते हैं। उन तर्कों को स्वीकारात्मक बनाने के लिए प्रश्नोत्तर देने वाला सम्बद्ध विषय पर और अधिक चिन्तन करता है और किसी नये तथ्य की खोज करता है जिससे प्रश्नकर्ता को सन्तोष प्राप्त होता है। अतः तर्क संसार में, अपने स्थान पर अत्यन्त उपयोगी और महत्वपूर्ण होते हैं। तर्क स्वभाव में भले ही कष्टकर होते हैं किन्तु इनका परिणाम मानवहित में बहुत शुभ है। वैज्ञानिकों की अपार सफलताओं के पीछे तर्कों का ही अप्रत्यक्ष प्रेरणा का बल है। जहाँ तर्क है वहाँ तथ्य है। तथ्य को खोज लेने पर जीवन को भौतिक सुख—सम्पन्नता प्रदान कराना सहज हो जाता है। अंगीठी पर रखी केतली के ढक्कन को भाप के कारण बार—बार उठते—गिरते देखकर हैरान जेम्सवाट की बुद्धि ने तर्क किया ''ऐसा क्यों ?'' जिज्ञासा के प्रबल होने पर उसने केतली के ढक्कन के ऊपर कुछ वजन रख दिया। कुछ देर के बाद जेम्स पहले से भी ज्यादा अचम्भित था। जब उसने देखा कि ढक्कन उस वजनी वस्तु को नीचे गिरा कर पुनः उठने—गिरने लगा है। तर्क पैदा होते गये और चिन्तन बढ़ता गया। तथ्य पैदा हुआ कि— ''भाप में शक्ति है। आगे चलकर इसी तथ्य का परिणाम हुआ भाप के इंजन का निर्माण। तर्कों का ही सहारा लेकर वैज्ञानिकों ने अनेकों प्राकृतिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों को ढूढ़ कर असंख्य सच्चाइयों को साधारण मनुष्य के सम्मुख रख दिया है। वैज्ञानिक धरातल पर तर्क जितने उपयोगी सिद्ध होते हैं उतने सामाजिक धरातल पर नहीं। समाज में किये जाने वाले तर्क प्रायः दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा करते हैं। परस्पर सामंजस्य का अभाव और अहंकार की प्रधानता ही मात्र इसके दो कारण हैं अहंकारी मनुष्य को अज्ञानता के कारण झुकना पसन्द नहीं होता फलस्वरूप दोनों पक्षों के सामंजस्य का संयोजन बिगड़ जाता है। परिणाम असंतोषजनक और अशुभ प्राप्त होता है। धरती पर जितने भी उपद्रव, दंगे, मनमुटाव, द्वेष प्रतिशोध, विवाद, प्रतियोगिता, दलीय संघर्ष तथा शोषण आदि दृष्टिगोचर हो रहे हैं ये सभी अहंकार की उपस्थिति में परस्पर दोषपूर्ण व्यवहार के परिणाम हैं।

तर्कों में मतभेद उत्पन्न करने का अवगुण होने के कारण अभिमानी प्रतिष्ठित समाज इसे दोष दृष्टि से देखता है। जबकि वास्तव में लोगों में आपसी मतभेद पैदा करना तर्कों का अपना स्वाभाविक गुण नहीं है। तर्कों के गुण—दोष तर्ककर्ता तथा तर्कोत्तर देने वाले विशिष्ट व्यक्ति के गुण—दोषों से उसी प्रकार जुड़े हैं जिस प्रकार आभूषणों के स्त्री से। किसी रूपवती स्त्री पर जो आभूषण अत्यन्त आकृष्ट करने वाले होते हैं वही कुरूप स्त्री पर फीके पड़ जाते हैं। तर्क करना कोई सामाजिक बुराई नहीं है। तर्क चाहे वैज्ञानिक परिवेश में उठा हो चाहे समाज से सम्बद्ध आध्यात्मिक जगत में वह अन्ततः किसी तथ्य (सच्चाई) को ही प्रकट करेगा किन्तु तर्क करने से पूर्व तर्ककर्ता को तर्क करने का उचित ढंग अवश्य सीख लेना चाहिए ताकि मतभेद की स्थिति पैदा न हो। तर्क सिद्धान्त से सम्बन्धित आध्यात्मिक जगत में परस्पर मतभेद उत्पन्न करने वाली दो

ही स्थितियां प्रकाश में आती है। प्रथम स्थिति वह है जिसमें तर्कोत्तर देने वाला प्रतिष्ठावान व्यक्ति अल्पज्ञानी अथवा अभिमानी है। दूसरी स्थिति वह है जिसमें तर्ककर्त्ता अपने ही सिद्धांतों को बल देने वाला अभिमानी व्यक्ति है। इन दो स्थितियों में तो बात आपसी मन मुटाव तक ही सीमित रहती है किन्तु एक तीसरी अवस्था और है जिसमें दोनों ही पक्ष अभिमानी और अपने सिद्धांतों पर अटल रहने वाले होते है। विश्व में इस तीसरी अवस्था के कारण ही बड़े–बड़े अनिष्ट हुए इतिहास साक्षी है इस बात का। दो स्वाभिमानों के टकराव में अन्य लोगों को कितना कष्ट उठाना पड़ता है कौन सोचता है ? प्राचीन राजा लोग प्रजा के हित में कम अपने स्वाभिमान के हित में अधिक लड़ते थे। अंग्रेजों ने इसी दोर्बल्लता का लाभ उठाया। हमारे ही लोगों में फूट डलवाने में वे चालाक अंग्रेज सफल रहे। व्यापार के लिए आये मुट्ठी भर विदेशी हमारी कमजोरी का लाभ उठाकर शान से विशाल भारत पर राज्य करके गये और उनका अत्याचार सहना पड़ा मासूम प्रजा को। तीसरे व्यक्ति की, उस सम्पदा पर नीयत खराब होने के कारण उसतक पहुँचने के लिए रास्ता बड़ी आसानी से मिल जाता है।

तर्क सिद्धान्त की पूर्व वर्णित तीसरी अवस्था के दोनों अभिमानी पक्ष यदि स्वयं सुधार कर लेते हैं तो अच्छी बात है नहीं तो टकराव ही इनके सुधरने का एक मात्र उपाय रह जाता है। टकराव के बाद भौतिक शक्ति और यश के क्षीण होने से इनका अभिमान स्वत: ही शान्त हो जाता है। किसी गम्भीर रोग को यदि प्रारम्भिक अवस्था में ही पकड़ लिया जाय तो उसमें शीघ्र लाभ पहुँचाया जा सकता है। जो रोग अपनी चरम सीमा को प्राप्त होते हैं उनमें लाभ पहुँचाने के अवसर बहुत कम रह जाते हैं। लोगों में दूरी पैदा करने वाली तर्क सम्बन्धी प्रथम दोनों स्थितियों ही उचित सुधार के अभाव में धीरे–धीरे तीसरी भयंकर स्थिति में परिवर्तित हो जाती हैं। अत: प्रथम दोनों स्थितियों पर ही ध्यान देना उचित होगा।

प्रथम स्थिति में तर्कोत्तर देने वाले की अहंकारी बुद्धि के कारण उसकी तरफ से मन मुटाव उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में तर्ककर्त्ता को विवेक पूर्ण व्यवहार करना चाहिए। दूसरी तरफ से सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर भी उसे मधुर और शान्तिपूर्ण व्यवहार को ही अपनाना चाहिए। किन्तु इस कार्य को वही तर्ककर्त्ता कर सकता है जिसमें सरलता का सद्गुण विद्यमान होगा अर्थात जो अभिमान रहित होगा। तर्क अभिमान पूर्ण होने पर, दूसरी ओर तर्कोत्तर देने वाले अभिमानी पुरुष के अहंकार के प्रभावित होने का सन्देह बना रहता है। कुछ ग्रहण करने के लिए समर्पण का सिद्धान्त बना रहता है। कुछ ग्रहण करने के लिए समर्पण का सिद्धान्त आदिकाल से चला आ रहा एक सार्वजनिक और अपरिवर्तित नियम है। कहीं भी कोई किसी से कुछ ग्रहण कर रहा है तो वह समर्पण के आधार पर ही है। जहाँ इस नियम की अवहेलना नहीं वहाँ अहंकार को कोई स्थान नहीं। यही इस महान नियम की उपलब्धि है वैज्ञानिक जब किसी नये सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए उससे सम्बद्ध तथ्य को ढूंढने का प्रयास करते है तो प्रथम उसे प्रकृति के नियमों के प्रति अपना समर्पण बनाना पड़ता है। जैसे—अग्नि की उपस्थिति में यदि कोई प्रयोग करना है तो पहले वह स्वयं को अग्नि के प्रभाव से सुरक्षित रखने के लिए कुछ सुरक्षात्मक प्रबन्ध करेगा यही अग्नि तत्व के प्रति उस वैज्ञानिक का समर्पण कहलायेगा। इस प्रकार जो वैज्ञानिक प्रकृति के प्रति पूर्णत: सावधान रहकर प्रयोग करते है वे शीघ्र ही अपने

अभीष्ट लक्ष्य को पा लिया करते हैं। प्रकृति के स्वभाव की अवज्ञा करके तथ्यों की खोज करने वाले वैज्ञानिक जीवन–पर्यन्त व्यर्थ ही संघर्ष किया करते हैं।

अध्यात्मिक जगत में ज्ञान जैसे निर्मल विषय पर प्रायः झगड़े और मन मुटाव देखने को मिलते हैं। किसके पास कितना ज्ञान है ? किसका धर्म श्रेष्ठ है ? किसके गुरु सर्वश्रेष्ठ हैं ? आदि विषयों को लेकर बड़े–बड़े विद्वान कहलाने वाले पुरुषों में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। किसी विशेष गुण अथवा योग्यता के आधार पर किसी धार्मिक प्रतिष्ठित पद को पाने वाला यह न समझ ले कि वह अहंकार से पूर्णतः मुक्त होगा क्योंकि उसकी प्रतिष्ठा उसकी भौतिक उपलब्धि है आध्यात्मिक नहीं है। इस श्रेणी के लोग किसी मन्दिर के पुजारी, मस्जिद के मौलाना, चर्च के पादरी और किसी आश्रम या धार्मिक संस्था आदि के संचालक/व्यवस्थापक आदि हो सकते हैं। आत्म साक्षात्कारी महापुरुषों को छोड़ कर शेष सभी इस प्रकार के लोग यथा अज्ञान किसी न किसी प्रकार अहंकार से ग्रसित होते ही है।

परम्परानुसार सामान्य स्तर के लोग अपनी जिज्ञासाओं के समाधान हेतु इनके निकट पहुँचते हैं। संतोषजनक उत्तर न मिलने पर तर्क भी किया करते हैं। ये प्रतिष्ठावान पुरुष इन लोगों की जिज्ञासाओं को शान्त करने में बड़ा गर्व महसूस करते हैं। साथ ही साथ यह चिन्ता भी रहती है कि कहीं कोई अपने ज्ञान बाणों से हमारे स्वाभिमान को घायल न कर दे। अधिकांश ऐसे धार्मिक प्रतिष्ठावान लोगों की यह स्वाभाविक धारणा बन जाती है कि हमारे निर्णय, विचार और परामर्श सदैव अनुकरणीय हैं और अन्य लोगों के द्वारा अवश्य स्वीकार करने चाहिए। ऐसे स्वाभिमानियों के समक्ष तर्क अहंकार रहित होकर करने चाहिए। यदि तर्कोत्तर से सन्तुष्टि नहीं मिलती तो प्रतितर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं है यदि ऐसी त्रुटि हो भी जाय तो तुरन्त क्षमा मांग लेनी चाहिए इससे दोनों ही पक्ष लाभान्वित होंगे। तर्ककर्ता अपने अहंकार पर तो नियन्त्रण पा ही जायेगा और उस स्वाभिमानी विद्वान पुरुष के अहंकार को भी जाग्रत नहीं होने देगा। कदाचित वह आपके अप्रिय तर्क से क्षुब्ध हो गया तो हो सकता है कि वह तुम्हें असभ्य घोषित करदे अथवा अपनी प्रतिष्ठा के बल पर अपने समर्थकों द्वारा अपमानित करा कर आपको अपने व्यक्तिगत या सार्वजनिक स्थान से बाहर निकलवा दे। अतः ऐसी स्थिति में शान्त रहना ही श्रेष्ठ है। मनुष्य की यही अज्ञानता ही उसके अहंकार की जनक है। यदि थोड़ा सा भी अज्ञान शेष है तो अभिमान तो अवश्य होगा ही। इसी अज्ञानता के रहते कभी–कभी बड़े–बड़े विद्वान पुरुष, अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक महत्वपूर्ण विषयों की अस्पष्ट व्याख्याऐं कर दिया करते हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि इनमें पूर्ण ज्ञान का मिथ्या अभिमान होता है। जो विद्वान पुरुष अपने अभिमान को सुरक्षित रखना चाहता हो, अपने प्रशंसकों–समर्थकों में वृद्धि देखना चाहता हो क्या वह कभी सन्त कहला सकता है ?

छोटों का धर्म बड़ों को सम्मानित करना है वहीं बड़ों का धर्म छोटों को प्रोत्साहित करना है। कभी–कभी अल्पायु में ही ज्ञान की निर्मल धारा बह निकलती है। ज्ञान पर आयु का कोई नियन्त्रण नहीं होता। अल्पायु में ही पूर्ण ज्ञान को प्राप्त संत ज्ञानेश्वर आध्यात्म इतिहास के दुर्लभ उदाहरण हैं। किसी–किसी छोटे बालक में तर्क शक्ति अधिक होती है यह भी ज्ञान का ही एक रूप होता है।

बचपन में सैकड़ों तर्क करने वाले बालक बड़े होकर किसी न किसी विशिष्ट ज्ञान के लिए संसार में

विख्यात होते देखे जाते हैं। कभी कोई छोटा बालक किसी प्रौढ़ को उचित ज्ञान की बात कह दे तो वे इसमें अपना अपमान समझते हैं। उनकी तीखी प्रतिक्रिया इस प्रकार की होती है—''कल का लड़का अभी ठीक से दुनियाँ को समझा नहीं है हमें ज्ञानोपदेश करने चला है।'' नरेन्द्र बचपन से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे अन्तःकरण में असंख्य तर्क उठा करते थे। समाज द्वारा सम्मानित अनेकों धार्मिक विद्वानों के निकट पहुँच कर वे ईश्वर से सम्बन्धित अनेकों तर्क करते थे। वे लोग अपनी योग्यतानुसार ईश्वर के विभिन्न गुणों का बखान करते और उनमें अपना अटूट विश्वास दर्शाते। किन्तु ये नरेन्द्र की जिज्ञासाओं के हल नहीं थे वे 'सत्य' का प्रत्यक्ष दर्शन चाहते थे। जब वे पुनः तर्क करते, ''क्या तुमने स्वयं ईश्वर को देखा है? मुझे भी ईश्वर के दर्शन कराओगे?'' इन तर्कों से हार कर नरेन्द्र का प्रायः उन विद्वान पुरुषों से मतभेद हो जाया करता था। अन्ततः वे नरेन्द्र को ही बुराभला कहते थे जानते हुए भी कि हम आत्मज्ञानी नहीं हैं। जो आत्मज्ञानी होगा वही तो किसी को ईश्वर से मिला सकेगा। एक दिन उनकी मुलाकात काली के महान उपासक स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी से हुई। प्रथम भेंट में ही उन्होंने स्वामीजी के समक्ष वही तर्क बड़े गर्व से प्रस्तुत कर दिये। स्वामी जी के शक्तिपात से नरेन्द्र को वहाँ ईश—साक्षात्कार प्राप्त हुआ। बाद में यही नरेन्द्र स्वामी विवेकानन्द बन कर सारे संसार को हिन्दु संस्कृति का महान पाठ पढ़ाने वाले अमर प्रकाश स्तम्भ बने।

हम देखते हैं कि तर्कों ने ही स्वामीजी का परिचय ईश्वरीय सत्ता से कराया। न तर्क होते न आत्म साक्षात्कार होता। तर्कों का आकार सूक्ष्म है किन्तु प्रभाव असीमित है। योग्य महापुरुषों के सानिध्य में किये गये तर्क अत्यन्त शुभ परिणाम देने वाले होते हैं यही तर्क किसी अहंकारी के समक्ष प्रस्तुत करने पर दुर्भाग्य पूर्ण हो जाते हैं। तर्कों में अद्भुत शक्ति है तर्कों के शुभ होने पर विश्व शान्ति भी हो सकती है और दुर्भाग्यपूर्ण होने पर विश्वयुद्ध भी। तर्क कब सुतर्क है और कब कुतर्क यह ध्यान देने की बात है। यथार्थ तो यह है कि तर्क तो सिर्फ तर्क ही होते हैं। जब ये तर्क किसी अल्पज्ञानी अहंकारी के पास लाये जाते हैं तो वह उन्हें अपनी प्रकृति के अनुसार 'कुतर्क' की श्रेणी में रख देता है वही तर्क जब किसी महापुरुष योगी के समक्ष प्रकट किये जाते हैं तो वह उन्हें अपनी प्रकृति के अनुसार 'सुतर्क' बना देता है। स्वामीजी अपने तर्कों को लेकर जब तक अल्पज्ञानियों के समीप जाते रहे उन्हें सन्तोषजनक उत्तर नहीं प्राप्त हुये बल्कि उन लोगों ने यह दोष और लगा दिया कि यह लड़का बहुत कुतर्क करता है नास्तिक है। जब उन्हीं तर्कों को लेकर वे स्वामी रामकृष्ण परमहंसजी के समीप गये तो वही तर्क परमहंसजी का अनुग्रह पाकर 'सुतर्क' में परिवर्तित हो गये। अतः निष्कर्षरूप में दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं जिससे भी तर्क करें वह सही अर्थों में योग्यपुरुष हो दूसरी बात यह कि हमारे तर्क अभिमान युक्त न हों। एक प्रश्न उठता है कि क्या स्वामीजी भी अहंकार जैसे पतनकारी विकार से युक्त थे जो उनके तर्कों को प्रारम्भ में कुतर्क समझा गया। उत्तर में एक बात ध्यान रखने की है कभी किसी महापुरुष के अवगुणों को नहीं टटोलना चाहिए ये कार्य उन राक्षसों का है जो किसी महापुरुष को नीचा दिखाने के लिए उसकी कमजोरियों को ढूंढा करते हैं। अपने बचपन में कोई भी महापुरुष विकारमुक्त नहीं होता। महायोगेश्वर श्री कृष्ण चन्द्र जी महाराज ने अपनी बाललीलाओं में चोरी आदि लीलाओं के माध्यम से यही तो सिद्ध किया है। हम जिस विवेकानन्द को जानते हैं, ऐसे वे अपने बचपन में नहीं थे तब

वे सपाट तर्क करने वाले नरेन्द्र थे। थोड़ी देर के लिए हम स्वयं को नरेन्द्र समझलेते है अब हम किसी ऐसे अभिमानी धार्मिक पुरुष के पास जायें जो आत्मसाक्षात्कारी नहीं है और उनसे पूछें—'क्या ईश्वर है ?' वह स्वाभाविक रूप से इस बात को कहेगा कि ईश्वर है और उस पर विश्वास करना चाहिए। अब अगला तर्क करें—''क्या आपने स्वयं ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन किया है ? यदि नहीं तो आप इतने आत्मविश्वास के साथ ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कैसे कह सकते है ?' इस प्रकार के प्रश्न अहंकार की भाषा में ही पूंछे जा सकते हैं। क्योंकि हमें यह पूर्वबोध रहता है कि अमुक व्यक्ति पर मेरे इस तर्क का उत्तर नहीं होगा और वह मेरे आगे पराजित हो जायेगा। हम स्वयं ही सोचें इस प्रकार के तर्कों पर तर्कोत्तर देनेवाले अभिमानी पुरुष की हमारे प्रति क्या प्रतिक्रिया होगी। अन्दर ही अन्दर उसमें अपमानित होने की जलन उठेगी खीझकर वह हमसे यही कहेगा कि तुम कुतर्की हो—नास्तिक हो।

अब तर्कों से सम्बद्ध पूर्व उल्लेखित दूसरी स्थिति पर भी चर्चा कर लेते है। इस स्थिति में तर्कोत्तर देने वाला बड़े सरल स्वभाव का परोपकारी तपस्वी है अथवा आत्मसाक्षात्कारी है और तर्ककर्ता अभिमान पूर्वक तर्क करता है ऐसा मानकर चलते है। ऐसे अवसरों पर विद्वान महापुरुष अपनी सरलता के कारण अपने तर्क कर्ता से बड़े विवेकपूर्ण ढंग से व्यवहार करते है। वे शान्तिपूर्वक उसके तीखे, जलन पैदा करने वाले तर्कों को सहन कर लेते हैं। क्योंकि अन्त: चक्षुओं से वे जानते है कि अति अहंकार के कारण उसकी बुद्धि विपरीत होने से यह मेरी बात को स्वीकार नहीं करेगा अत: वे तर्ककर्ता की बात की उपेक्षा करने में ही भलाई समझते हैं। या यूं कहलो कि वे उस तर्ककर्ता के समक्ष अपनी हार स्वीकार कर लेते है। एक तर्क सैकड़ों तर्कों को जन्म देता है अत: पुन: तार्किक बुद्धि में एक तर्क उठता है—नरेन्द्र के तर्क अभिमान पूर्ण होते हुये भी उन्हें अपने गुरुदेव का अनुग्रह कैसे प्राप्त हुआ ? तर्क उचित है। ''यदि ईश्वर है तो मुझे कोई प्रत्यक्ष दिखाये।'' ऐसा कड़ुवा किन्तु सत्य तर्क करने वाले स्वामी विवेकानन्द कोई पहले व्यक्ति नहीं थे उनसे पहले भी लोग श्री परमहंस जी से ऐसे तर्क किया करते थे और बाद में भी......। किन्तु इन तर्कों का शुभ परिणाम स्वामीजी को ही क्यों प्राप्त हुआ अन्य को क्यों नहीं ? सच्चाई यह है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी जैसे महान गुरुदेव ने अपने दिव्य दृष्टि से यह जान लिया था कि नरेन्द्र पिछले प्रबल पुण्यों के कारण महान सुसंस्कारी बालक है और अपने उच्च श्रेणी के तर्कों के अनुकूल ईशसाक्षात्कार को प्राप्त करने की प्रबल योग्यता रखता है। ऐसा जान कर ही उन्होंने नरेन्द्र को उसकी इच्छा पूर्ण करने का तत्काल वचन दे दिया। दूसरे जो कम संस्कारी होते है। अपने गुरुदेव के पावन चरणों में जब श्रद्धायुक्त होकर प्रार्थना करते है तो वे दयालु गुरुदेव उन्हें भी शरण में ले लिया करते है और उन्हीं से पुण्य कराकर उन्हें शरणागति प्रदान कर दिया करते है। किन्तु जिनका पिछला पुण्यबल क्षीण हुआ करता है ऐसे लोगों को सिद्धों की संगति तो बहुत दूर की बात है उनके दर्शन भी दुर्लभ होते है। हमने ऐसे सैकड़ों लोगों को देखा जो अपने अहंकार और उसके दुष्परिणाम कुबुद्धि के कारण श्री सिद्ध गुरु संवाई आश्रम के द्वार से ही लौट जाते थे। गुरुदेव के दर्शन करने की पिछले पाप कर्मों के कारण उनमें प्रेरणा ही पैदा नहीं होती थी। किसी को दर्शन करने का और बात करने का सौभाग्य प्राप्त हो भी गया तो वह गुरुदेव की कार्यशैली को अपनी विपरीत बुद्धि के अनुकूल न पाकर, भ्रमित होकर

लौटता ही बना। ऐसे कुसंस्कारी जब किसी श्रेष्ठ गुरु से तर्क करते हैं तो वे उनके साथ बड़ी शान्ति से विवेकपूर्ण व्यवहार करते हैं ताकि वह अपनी अहंकारी बुद्धि से कोई अप्रिय स्थिति पैदा न कर दे।

एक बार पूज्य सन्त जी रामसुखदास जी किसी स्थान पर अपना प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन की समाप्ति के तुरन्त बाद एक पढ़े लिखे अत्याधुनिक व्यक्ति ने महात्माजी से तर्क किया– "वैज्ञानिक युग में आप ईश्वर के जिन सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं। विज्ञान ने उन्हें आडम्बर सिद्ध कर दिया है। यदि हम आपके धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार न करें तो ?" स्वामी जी बिल्कुल शान्त रहे उन्होंने उक्त तर्क की उपेक्षा कर दी कुछ उत्तर न मिलने पर उस व्यक्ति ने पुनः मुंह खोला– "आप ने मेरी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया?" स्वामी जी ने बड़े धैर्य के साथ मधुर शब्दों मे उत्तर दिया तुम अपने स्थान पर अपनी बुद्धि से ठीक ही कह रहे होंगे मैं अपनी बुद्धि के अनुसार अपने ही सिद्धान्तों को उचित समझता हूं। जैसे तुम्हें मेरे सिद्धान्त प्रिय नहीं हो सकते तो मैं भी कैसे आपके सिद्धान्तों से सहमत हो सकता हूं अतः आपके मामले में मुझे चुप रहना ही अधिक उपयुक्त लगता है। कम से कम हम दोनों व्यर्थ झगड़े से तो बच ही जायेंगे।

लेख के कुछ महत्वपूर्ण अंश पाठकों में लेख के प्रति रुचि पैदा करने हेतुः–

– वैज्ञानिक धरातल पर तर्क जितने उपयोगी सिद्ध होते हैं उतने सामाजिक धरातल पर नहीं। समाज में किये जाने वाले तर्क प्रायः दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा करते है। परस्पर सामंजस्य का अभाव और अहंकार की प्रधानता ही मात्र इसके दो कारण हैं।

– तर्क करना कोई सामाजिक बुराई नहीं है।

तर्क चाहे वैज्ञानिक परिवेश में उठा हो चाहे समाज से सम्बद्ध अध्यात्मिक जगत में वह अन्ततः किसी तथ्य (सच्चाई) को ही प्रकट करेगा। किन्तु तर्क करने से पूर्व तर्ककर्ता को तर्क करने का उचित ढंग अवश्य सीख लेना चाहिए ताकि मतभेद की स्थिति पैदा न हो।

– किसके पास कितना ज्ञान है? किसका धर्म श्रेष्ठ है? किसके गुरु सर्वश्रेष्ठ है? आदि विषयों को लेकर बड़े–बड़े विद्वान कहलाने वाले पुरुषों में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। किसी विशेष गुण अथवा योग्यता के आधार पर किसी धार्मिक प्रतिष्ठित पद को पाने वाला यह न समझ ले कि वह अहंकार से पूर्णतः मुक्त होगा क्योंकि उसकी प्रतिष्ठा उसकी भौतिक उपलब्धि है, आध्यात्मिक नहीं।

– यदि तर्कोत्तर से सन्तुष्टि नहीं मिलती तो प्रतितर्क करने की कोई आवश्यकता नही है। यदि ऐसी त्रुटि हो भी जाये तो तर्कोत्तर देने वाले से तुरन्त क्षमा मांग लेनी चाहिए इससे दोनों ही पक्ष लाभान्वित होंगे। तर्ककर्ता अपने अहंकार पर तो नियंत्रण पा ही जायेगा और स्वाभिमानी विद्वान पुरुष के अहंकार को भी जाग्रत नहीं होने देगा।

– तर्कों का आकार सूक्ष्म है किन्तु प्रभाव असीमित है। योग्य महापुरुषों के सानिध्य में किये गये तर्क अत्यन्त शुभ परिणाम देने वाले होते हैं। वही तर्क किसी अहंकारी के समक्ष प्रस्तुत करने पर दुर्भाग्य पूर्ण हो जाते हैं। तर्कों में अद्भुत शक्ति है तर्कों के शुभ होने पर विश्व शान्ति भी हो सकती है और दुर्भाग्यपूर्ण होने पर विश्वयुद्ध भी।

करना और होना

के. ना. कुलश्रेष्ठ 'जनकजी'

एक होता है 'करना' और एक होता है 'होना'। करने में मानव स्वतन्त्र है और होने में परतन्त्र। करने में मनुष्य इसलिए स्वतन्त्र है कि वह चाहे तो परमार्थिक कार्य करके अपने को जन्म–मरण के चक्कर से मुक्त कर सकता है। अथवा रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत होकर अपने को दुष्कर्मों के द्वारा संसार चक्र में पुनः पुनः फँसाता रहता है इस प्रकार जीव मुक्ति के पथ से पतित हो जाता है।

होना परमात्मा के अधीन है। परमात्मा ने मनुष्य को कर्मयोनि होने के कारण मात्र कर्म करने का अधिकार दिया है। उस कर्म के फल को प्राप्त करने का अधिकार उसे नहीं दिया है। ''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्''। मनुष्य को कर्म करने का अधिकार परमात्मा ने दिया है। अन्य समस्त योनियाँ भोग योनियाँ हैं। इसका तात्पर्य है कि कर्तव्य कर्म अपने लिए नहीं करता है दूसरों के हित के लिए कर्म करता है। यदि वह कर्म स्वार्थ सिद्धि के लिए करेगा तो बन्धन में पड़ जायेगा। अतः मनुष्य का सेवा रूप कर्तव्य कर्म करने का ही अधिकार है। फल की प्राप्ति में उसकी स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि फल का विधान परमात्मा के अधीन है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

यहाँ दैव का अर्थ संस्कारों अथवा प्रारब्ध का है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही संस्कार उसके अन्तःकरण पर पड़ता है। अतः मनुष्य होने में पूर्ण परतन्त्र है। क्योंकि इसमें उसे अपने प्रारब्ध पर निर्भर रहना पड़ता है। संचित कर्मों में से जो कर्म फलोन्मुख होते हैं, उन्हीं के अनुसार जीव को जन्म, आयु तथा भोगों को साथ लेकर पुनः माँ के उदर में आकर जन्म लेना पड़ता है। जब वह अपने भोगों को पूर्ण कर लेता है तब उसका वह शरीर नष्ट हो जाता है। और जीव पुनः नवीन संस्कारों के साथ माँ के उदर में आ पड़ता है।

मनुष्य जितने कर्म करता है। उसमें प्रकृति का सबसे बड़ा हाथ होता है। प्रकृतेः क्रियमाणानिगुणैः कर्माणि सर्वशः। परन्तु अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला व्यक्ति मैं कर्ता हूँ ऐसा मान लेता है। अतः होना प्रकृति व उसके गुणों के अधीन है और करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ। ''नैव किंचित्करोमीति। मैं करने वाला नहीं हूँ जो होना होता है वह प्रकृति व उसके गुणों के अधीन है।

हम चाहते हुए न धनवान हो सकते हैं और न ही अपने को स्वस्थ रख सकते हैं। तथा न चाहते हुए हम न निर्धनता से अपने को बचा सकते हैं और न अपने को अस्वस्थता से बचा सकते हैं। इस बात को आदर देकर –महत्व देकर सुखी दुखी होना अपने हाथ की बात है। अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं और चली जाती हैं। ''आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।'' ये अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियां सदैव रहने वाली नहीं हैं। इन आने–जाने वाली परिस्थितियों में सुख–दुख से ऊपर उठकर रहना है। सुख–दुख में सम रहने से ही साधक अपने स्व में स्वतः ही स्थित हो जाता है।

''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।'' गुरुदेव के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर निरन्तर, दीर्घकाल तक श्रद्धा के साथ साधना करना शिष्य का कर्तव्य है, परन्तु फल देना परम दयालु गुरुदेव के हाथ में है। दो घन्टे जप और एक घन्टे ध्यान करना प्रत्येक साधक के लिए गुरुदेव का आदेश है इस आदेश का पालन करते रहना बिना फल की इच्छा किए हुए, शिष्य का कर्तव्य है। हम अपने कार्यों को कामना तथा आसक्ति लेकर करते हैं और जो होता है वह भगवान द्वारा बनाए हुए विधान के द्वारा होता है। करने में मनुष्य को कर्तापन और फलासक्ति नहीं होना चाहिए और होने में सदैव प्रसन्न रहना चाहिए। कर्तापन के अभिमान और फल की इच्छा से जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारी होता है। कर्तापन व भोक्तापन भगवान का बनाया हुआ नहीं है। वह तो जीव ने स्वयं बनाया है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

कर्तापन और भोक्तापन जीव के द्वारा स्वयं बनाने का ही परिणाम है कि उसे अनेक अच्छी बुरी योनियों में बारम्बार जन्म–मरण के चक्कर में फिरना पड़ता है। यदि मनुष्य कामना और आसक्ति को त्यागकर होने पन में सदैव प्रसन्न रहे तो उसकी मुक्ति सहज है। वह सदैव मुक्त ही है। बद्ध नहीं है।

—: सम्पादकीय निवेदन :—

योगयोगेश्वर आनन्दकन्द श्री सद्गुरुदेव जी की अपार अनुकम्पा से श्री महाप्रभु रामलाल जी महाराज का परम पावन जन्मोत्सव समारोह इस वर्ष चैत्र शुक्ला सप्तमी अष्टमी व नवमी दि० 3, 4 एवं 5 अप्रैल दिन शुक्र, शनि व रविवार को श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) में बड़ी धूमधाम से मनाया जायेगा, उसके साथ ही 'सिद्धयोग' अपने जीवन के 30 वें वर्ष को पूरा कर 31वें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। योग के सिद्धान्त एवम् शिक्षाओं के प्रचारार्थ ही परमपूज्य गुरुदेवजी ने 'सिद्धयोग' को प्रारम्भ किया था। उनके शुभ संकल्प से अब तक यह अबाध गति से प्रकाशित होता चला आ रहा है। इसमें किसी भी प्रकार के विज्ञापनों को ग्रहण न करना पूज्य सद्गुरुदेव जी की घोषित नीति का पालन अबतक होता चला आ रहा है। श्री गुरुदेव के तिरोहित हो जाने के बाद इसके ग्राहक के रूपमें थोड़े ही गुरुभाई बहिन सहयोग दे रहे है। अतः उनसे प्राप्त शुल्क से पूरे वर्ष का प्रकाशन व्यय नहीं चल पाता है जिसकी पूर्ति के लिए सम्पादकीय एवं व्यवस्थापक मण्डल को अनुदान के रूप में स्थान-स्थान से धन की व्यवस्था करनी पड़ती है।

'सिद्धयोग' का प्रस्तुत मार्च अंक 30वें वर्ष का बारहवां अंक है जिसे प्रकाशित करके पाठकों की सेवा में प्रेषित किया जा रहा है। इस अंक के साथ सभी ग्राहकों का पत्रिका के 30वें वर्ष का शुल्क जो जमा कराया गया था, समाप्त हो जाता है। अतः सभी ग्राहक-अनुग्राहक गुरुभाई-बहिनों से निवेदन है कि 31वें वर्ष का नवीन संशोधित शुल्क 70 रु० सिद्धयोग कार्यालय, सवाई (आगरा) में पहुँचकर ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा या ब्र० दासलाल शर्मा के पास जमा करना चाहिए अथवा मनीआर्डर द्वारा इन्हीं के नाम से सिद्धयोग कार्यालय, श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) के पते पर भेजा जाना चाहिए। वी० पी० से 'सिद्धयोग' मंगाना ग्राहकों को बहुत व्ययसाध्य होगा। इसमें मूल्य के अतिरिक्त लगभग 5 रु० अधिक ग्राहकों को देना होगा। अतः पत्रिका-शुल्क मनीआर्डर से भेजने में ही सुविधा रहेगी।

'सिद्धयोग' के सभी पाठकों एवं गुरुभाई-बहिनों से निवेदन है कि वे स्वयं इस पत्रिका के ग्राहक बनें तथा अन्यों को भी बनने-बनाने की प्रेरणा दें। मण्डलानुसार जिन जिन अधिकृत गुरुभाई-बहिनों का नाम निर्धारित है, उन्हें अपना पावन कर्तव्य समझते हुए इस ओर तत्परता से जुट जाना चाहिए ताकि 'सिद्धयोग' स्वावलम्बी बन सके। कागज आदि की कीमत में निरन्तर वृद्धि होने के कारण पत्रिका के शुल्क में भी बढ़ोतरी करना आवश्यक हो गया है, जिसका हमें दुःख है।

'सिद्धयोग' के प्रकाशनमें जिन लेखकों, कवियों तथा ध्यानयोगियों के प्रेरणाप्रद लेखोंसे 'सिद्धयोग' प्राणवान बना हुआ है, इस अवसरपर उन्हें हम विनम्रतापूर्वक हार्दिक धन्यवाद प्रेषित करते हैं और उनसे आशा करते हैं कि इसी प्रकार के योग सम्बन्धी अपने सारगर्भित लेख भेजते हुए हमें अनुग्रहीत करते रहेंगे। जीवन-धन गुरुदेव ही 'सिद्धयोग' के सर्वस्व हैं। इसकी भावी सफलता के लिए हम और आप सभी श्री सद्गुरु के चरण-कमलों का पावन चिन्तन करते हुए आगे बढ़ें।

विनयावनत :

सद्गुरु चरणरज ब्र० दासलाल शर्मा

IDDHAYOGA Re... L... .008 MARCH 1998

प्रेषण कार्यालय –

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एलादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book Post

श्री ---------------------

प्रणव की महिमा

प्रणवात् प्रभवो रुद्रः, प्रणवात् प्रभवो हरिः ।
प्रणवात् प्रभवो ब्रह्मा, प्रणव एव अवशिष्यते ॥

अर्थात्

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव तीनों की उत्पत्ति प्रणव अर्थात् ओंकार से है। और सबका प्रलय होने पर प्रणव ही शेष बच जाते हैं। यह प्रणव काल की सीमा का अतिक्रमण करके अखिल अण्ड ब्रह्माण्डों में व्याप्त है।

प्रकाशक एवं मुद्रक–विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326